संवाददाता : सत्ता और महत्ता

हेरम्ब मिश्र

किताब महल

प्रथम संस्करण . 1984
द्वितीय संस्करण : 1993

मुख्य वितरक

1. किताब महल एजेन्सीज,
84, के० पी० कक्कड़ रोड,
इलाहाबाद —211003,
फोन : 50540

2. किताब महल डिस्ट्रीब्यूटर्स
28, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज,
नई दिल्ली—2
फोन : 3273230

3. किताब महल एजेन्सीज,
अशोक राजपथ, पटना—4
फोन : 50599

4. किताब महल एजेन्सीज,
मनोज बिल्डिंग, सेण्ट्रल बाजार रोड,
रामदास पेठ, नागपुर—10

5. किताब महल एजेन्सीज
A 3/4A, मछोदरी,
वाराणसी—220001,
फोन : 332721

6. पी० जी० परदेशी
6, मेघदूत, 27, पी० एम० रोड
विले पारले (ईस्ट)
बम्बई–400057,
फोन : 6132360

मूल्य : 25.00

लेखक का संक्षिप्त परिचय

1. अब तक की पत्रकारिता-यात्रा पचास वर्ष से अधिक की

2. हिन्दी-माध्यम से पत्रकारिता को पुस्तक-प्रणयन के रूप में एक मानक देन :—पत्रक में संकट पर अकेली दिखने वाली दो पुस्तकें—'पत्रकारिता : दो दिशाएँ' और कारिता : संकट और संत्रास।' दो और पुस्तकें 'सम्पूर्ण पत्रकारिता' और ' दाता : सत्ता और महत्ता।' विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लगभग 30 लेखो में प्रकाशनार्थ तैयार पाँचवीं पुस्तक 'समाचार-संसार'

3. सहयोगी लेखकों तथा उत्सुक प्रकाशकों की प्रतीक्षा में पड़ी प्रणयन-वांछित पुस्तकें (i) भारतीय पत्रकारिता का परिपूर्ण एवं सम्यक् इतिहास (ii) विश्व के साहसिक स दाता (iii) पत्रकारिता और लोकतन्त्र की दशा (iv) साहित्य और पत्रकारिता आधुनिकतम मुद्रण-तकनीक और पत्र-पत्रिकाएँ

4. स्व० गंगाशंकर मिश्र 'किताबी कीड़ा' द्वारा सम्पादित दैनिक 'सन्मार्ग', गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में सम्पादन-सहयोगी स्व० देवव्रत शास्त्री द्वारा सम्पादित-संचालित दैनिक 'नवराष्ट्र' (पटना) दैनिक 'भारत' (इलाहाबाद) तथा साप्ताहिक 'जनशक्ति' (पटना) के सम्पादक-मण्डल के चर्चित सदस्य

5. नियमित लेखक तथा स्तम्भ-लेखक के रूप में 'आज', 'अग्रगामी', विश्व-मित्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन की मासिक पत्रिका 'माध्यम', प्रदीप (पटना), 'आर्यावर्त्त' पटना 'नव-जीवन' (लखनऊ), 'जनवार्ता', 'गाण्डीव', 'योगी', 'जनता', 'स्पार्क' से सम्बद्ध

6. बिहार श्रमजीवी पत्रकार संघ के एक संस्थापक सदस्य तथा सर्वप्रथम संयुक्तमन्त्री, बिहार प्रगतिशील पत्रकारिता प्रशिक्षण केन्द्र के संस्थापक

7. जन्म-स्थान—काशी, शिक्षा-धाम—काशी, सबसे बड़ा (37 वर्षों से) पत्रकारिता-कर्म-क्षेत्र—प्रयाग, द्वितीय प्रमुख पत्रकारिता कर्म-क्षेत्र—पटना (बिहार)

प्रकाशक की ओर से

'संवाददाता : सत्ता और महत्ता' का यह दूसरा संस्करण प्रकाशित होना यदि अपने मे एक घटना कहा जाय तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि जहाँ तक प्रकाशन-जगत की जानकारी है, पत्रकारिता पर प्रकाशित पुस्तकों में से बहुत कम का प्रकाशन एक बार से अधिक हुआ है। यह घटना लेखक के लिए ही नहीं, प्रकाशक के लिए भी महत्वपूर्ण और गौरव की बात है। यही विज्ञापन तथा श्रेष्ठतर पुरस्कार से वंचित लेखक के लिए एक बड़ा विज्ञापन तथा पुरस्कार भी है।

जितनी जल्दी यह द्वितीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है उतनी जल्दी इसकी आशा कम थी। अब यह निश्चित हो गया है कि इसका स्वागत काफी अच्छा हुआ। हमें यह बताने मे कुछ खेद के साथ प्रसन्नता भी होती है कि प्रथम संस्करण की प्रतियाँ खप जाने के कारण किताब महल के पास आये अनेक आर्डर पड़े रह गये। जिनके आर्डर पड़े रह गये उनके लिए यह खुशी की बात होगी कि अब उन्हें अभिवृद्ध संस्करण मिलेगा—'ग्रामीण पत्रकार'—खण्ड जोडकर।

पहले तो हेरम्ब मिश्रजी की तृतीय पुस्तक 'सम्पूर्ण पत्रकारिता' द्वितीय संस्करण के लिए ली गयी थी, किन्तु चूँकि वह काफी बड़ी है और उसमें समय लग सकता है, अतः पहले 'संवाददाता : सत्ता और महत्ता' ही ली जा रही है। ऊपर जिसे एक घटना कहा गया है वह इस पुस्तक के क्रम में ही 'सम्पूर्ण पत्रकारिता' के द्वितीय संस्करण के प्रकाशित होने पर और बड़ी हो जायेगी। 'किताब महल' की योजना में तो मिश्रजी की ही संकट पर अकेली और बृहत्तर पुस्तक 'पत्रकारिता : संकट और संत्रास' का भी द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने का विचार हो आया है और हो सकता है कि उनकी अप्रकाशित पुस्तक 'समाचार संसार' को प्रकाशित करने का एक और श्रेय इसे प्राप्त हो जाये।

यह ध्यातव्य है कि श्री हेरम्ब मिश्र ने अपनी पचास वर्ष की पत्रकारिता-यात्रा में जीविका के ही लिए पत्रकारिता नहीं की। उनकी पत्रकारिता की एक सोद्देश्यता रही जिसके लिए उन्होंने कम संघर्ष नहीं किया। प्रतिकूलताओं से जूझती अपनी जिन्दगी में, कहीं से कोई प्रोत्साहन प्रेरणा या सहायता न मिलने की परवाह किये बिना पत्र-पत्रिकाओं में चाकरी करते हुए को इतनी पुस्तकें देना कोई कार्य नही है

कौन नहीं स्वीकार करेगा कि 'पत्रकारिता में बढ़ते हुए संकट' को पहले-पहल मिश्रजी ने ही देखा—'पत्रकारिता : दो दिशाएँ' और 'पत्रकारिता : संकट और संत्रास' की आँखों से। अकेले इस पहल के लिए, इस मौलिक कार्य के लिए, ही मिश्रजी का स्थान पत्रकारों में अग्रगण्य होना चाहिए था। ऐसे ग्रन्थकार-पत्रकार की कृतियाँ प्रकाशित करने में किस प्रकाशक को प्रसन्नता नहीं होगी। हम इस प्रकाशकीय के माध्यम से वर्त्तमान के 'उपेक्षित-अविज्ञापित महान' का परिचय भविष्य को करा रहे हैं।

मेरे हेरम्ब मिश्र-जैसे मित्रानुज की पुस्तक पर श्री इन्द्रेश कुमार अग्रवाल ने अपनी सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्था की ओर से पूर्ववत् मुझे ही प्रकाशकीय लिखने का अवसर देकर मुझे जो हर्ष, सम्मान तथा गौरव प्रदान किया—-इसके लिए मैं उनका मैं बहुत उपकृत हूँ।

239 चक, इलाहाबाद
पिन : 211003

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी
परशुराम पुरी, बलिया

ये 'दो शब्द' और

संवाददाताओं को मैंने 'लाखों की एक शक्ति' के रूप में देखा है, जैसाकि इसी शीर्षक से इस पुस्तक का एक अध्याय ही प्रस्तुत कर दिये जाने से स्पष्ट है। अपनी पत्रकारिता के प्रारम्भ के दो दशकों तक मेरा जो रुख रहा उसके विपरीत मैंने उसमें एक नयी सूझ के साथ परिवर्तन करके एक यथार्थता-वास्तविकता के रूप में अन्तत: संवाददाताओं (शहरी और ग्रामीण दोनों) की सत्ता और महत्ता भी स्वीकार कर ली, जैसाकि इस पुस्तक के नाम से देखा जा सकता है।

संवाददाताओं की 'शक्ति, सत्ता तथा महत्ता' को स्वीकार करने के साथ ही मैंने अपनी 'बिरादरी' के इतने बड़े समुदाय से कुछ बड़ी अपेक्षाएँ भी की हैं, जो इस पूरी पुस्तक में व्यक्त और व्याप्त है। यहाँ उन्हें अलग से दोहराने की आवश्यकता नहीं। मुझे अब ऐसा विश्वास हो गया है कि मैंने मिष्ट के साथ जो कुछ कटुतिक्त भी कह दिया है उसे भी बिना नाराजगी के प्रेमपूर्वक सवाददाताओं ने हृदयंगम किया है। तभी तो पुस्तक का द्वितीय संस्करण प्रस्तुत हो सका है। मै अपने युवक, अधेड़ तथा वृद्ध बन्धुओं के प्रति इस उदार भाव के लिए नत हूँ और उन्हे विशेष बधाई का पात्र मानता हूँ। उनका यह भाव मेरे लिए किसी पुरस्कार तथा अभिनन्दन से कही बड़ा होगा।

आम संवाददाताओं में एक बहुत बड़ी संख्या ग्रामीण पत्रकारों की हो गई है। मैं चाहता था कि उनमें से ही कोई 'ग्रामीण पत्रकार' नाम से एक स्वतन्त्र पुस्तक प्रस्तुत करे। किन्तु, अभी तक अकेले या सह-लेखक बनकर लिखने वाला न मिलने पर मैंने यह कार्य स्वय ले लिया और अलग से न सही, इसी पुस्तक के एक अंग के ही रूप में, यहाँ कुछ जोड़ लिया है। आशा है, यह अंश भी ग्रामीण पत्रकारों को प्रिय लगेगा और उनके काम आयेगा।

हर नये संस्करण में कुछ घट-बढ़ की आवश्यकता होती है और लेखक यों भी घट-बढ करना चाहता है। यहाँ मैंने वृद्धावस्था के साथ लग गई अस्वस्थता के बावजूद जोड़ने का एक कार्य तो आत्मसन्तोषपूर्वक कर लिया। किन्तु, पहले के अंश में यदि घट-बढ़ नहीं कर सका तो पाठकगण मेरी स्थिति पर दया करके मुझे क्षमा कर देंगे और पढ़ने-लिखने तथा खोज में अपने निजी प्रयास का भी उपयोग करेंगे। पूर्णता और पूर्ण शुद्धता की अपेक्षा एक ही व्यक्ति से नही की जा सकती। अपने ही साधनो तथा सूत्रों से थोड़ा घट-बढ़ कर लेना कठिन नहीं होगा। घट-बढ़ की जो मामूली आवश्यकता रह गई हो उसका ख्याल न कर यदि नये पाठक भी उसी तरह कुल मिलाकर सन्तुष्ट हो जायें जैसे पुराने पाठक रहे तो मैं समझूँगा कि मेरा [illegible]
[illegible]

समझने की हीन प्रवृत्ति के अलावा उनमें से ही कुछ के प्रभावशाली हो जाने और अपनी स्थिति बना लेने पर उनके प्रति ईर्ष्या की एक प्रवृत्ति उन कुछ बड़े लोगों में भी देखी जाती है जो पूर्ण पत्रकार की परिभाषा के अनुसार अनुभववृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध के अलावा वयोवृद्ध भी हो जाते हैं और किन्हीं सम्पादक-मण्डलों में महत्वपूर्ण पदों पर आसीन होते हैं। इसका एक उदाहरण इस पुस्तक में दिया गया है।

यह ईर्ष्या सहज हो या स्वाभाविक, उचित नहीं; विकास में बाधक होती है : हाँ, अपनी ही ईर्ष्या को अपने चिन्तन का एक विषय बना लेने पर ईर्ष्या के स्थान पर एक उदात्त सामंजस्य-बुद्धि का उदय होगा जो अनुचित सत्ता तथा महत्ता पर अंकुश लगाने में समर्थ हो सकती है। अनुचित सत्ता और महत्ता के अन्य कारणों के अलावा एक कारण यह भी जरूर है कि संवाददाताओं को प्रारम्भ से ही प्रशिक्षण तथा प्रोत्साहन और प्रेरणा की जैसी आवश्यकता होती है वैसी कहीं नहीं दिखलाई देती। काश, यह पुस्तक 'संवाददाता : सत्ता और महत्ता' अपने अभिवृद्ध रूप में इस अभाव की पूर्ति कर देती ! यदि ऐसा हो गया तो माता 'सकल-शब्दमयी' की एक बड़ी कृपा मुझ पर होगी और मैं समझूँगा कि मेरी पत्रकारिता कुछ काम आयी।

अपनी ओर से कुछ सेवा कर ले जाने की प्रसन्नता के साथ ही मुझे इस बात से और प्रसन्नता हो आई है कि अपने प्रशिक्षण की आवश्यकता तथा चिन्ता संवाददाताओं को स्वयं हो आयी है और वे आत्मप्रेरणा तथा आत्मप्रोत्साहन में लग गये हैं।

वैज्ञानिक प्रगति के साथ वर्तमान युग के कदम कुछ क्षेत्रों में तेजी से बढ़ने लगे हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि जो आज है वह कितनी जल्दी बदल जायेगा। इस स्थिति में अधिकांश विषयों पर पुस्तक-प्रणयन का कार्य भी कुछ नाजुक और कुछ जटिल तथा समस्याग्रस्त होता दिखलायी दे रहा है। किन्तु, अपने देश की विकास-गति को देखते हुए हम कह सकते हैं कि ऐसा नहीं हो गया है कि आज की लिखी पुस्तक आगामी आठ-दस वर्षों में ही पुरानी पड़ जायेगी। यदि बात इतनी जल्दी पुरानी पड़ने की होती तो इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण पाठकों के हाथ में न होता और इससे भी पहले प्रकाशित 'सम्पूर्ण पत्रकारिता' का भी द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय तथा साहस न होता।

यह बात कहना यहाँ इसलिए आवश्यक हो गया है कि कुछ लोग अनावश्यक रूप से या जरूरत से ज्यादा चर्चा पत्रकारिता में 'कम्प्यूटर युग' की और 'इलेक्ट्रानिक पत्रकारिता' की करने लगे हैं। चर्चा करना, चर्चा होना, अच्छी बात है। जब जहाँ-तहाँ यह युग और यह पत्रकारिता प्रबलतर रूप में आ ही गयी है तो उसकी मोटे तौर पर जानकारी औरों को भी होनी ही चाहिये। किन्तु, यह कहना कि "व्यावहारिक पत्रकारिता की शिक्षा, उसका प्रशिक्षण तथा उस पर पुस्तक-लेखन उसी के अनुरूप होना चाहिए" बिलकुल गलत है और स्वयं अपना मजाक उड़ाना है। अगर यह गलत तथा हास्यास्पद नहीं है तो ये लोग स्वयं क्यों नहीं उस विषय पर पुस्तकें प्रस्तुत कर देते सम्प्रति तथ्य यह है कि कुछ लोग दो-चार वाक्य

बोल कर कुछ ऐसा प्रभाव छोड़ जाने की कोशिश करते हैं कि उन्हें छोड़कर बाकी सब पुराने पड गये हैं। किन्तु, इनसे उस नई पत्रकारिता की जानकारी नहीं मिल पाती जिसकी वे चर्चा करके चले जाते हैं।

अभी जो वास्तविकता है और जो अभी रहेगी उसे समझने के लिए इने-गिने बहुत बड़े पत्रों को नहीं, सैकड़ों नगरों से निकलने वाले हजारों 'दृश्यादृश्य' पत्रों को लेना होगा। क्या ये सब बन्द होने जा रहे है, शीघ्र ही बन्द हो जाएँगे? और, क्या जो उनसे सम्बद्ध पत्रकार हैं उनकी जगह कुछ थोड़े से नये पत्रकारों को लेकर सब-कुछ कर लिया जायेगा? क्या शीघ्र ऐसा होने जा रहा है कि आदमी का काम मशीन करने लगेगी? यदि इनका उत्तर हाँ में नही मिलता तो कुल मिलाकर पत्र-पत्रिकाएँ विभिन्न स्तरों पर जैसी निकल रही हैं, जैसी चल रही और चलती रहेंगी, वैसे के लिए प्रशिक्षण तथा शिक्षा भी तदनुसार चलेंगे।

जिसे मैंने 'लाखों की शक्ति' कहा है वह सिमटकर सहस्रों में नहीं होने जा रही है। इस शक्ति के माध्यम से समाज को सम्पूर्णतः तथा हिस्सों में बाँटकर उसको ठीक-ठीक पहचानने का काम यदि हो सका और उस कार्य में भी यह पुस्तक सहायक हो सकी तो यह सेवा प्रशिक्षण-सेवा से बड़ी हो जायेगी। द्वितीय खण्ड में मेरा यह उद्देश्य स्पष्ट हो गया है।

यहाँ पुस्तक-प्रणयन की नई बात उठाकर मैंने अपनी एक बहुत पुरानी इच्छा व्यक्त कर दी है। जब मेरी पहली पुस्तक 'पत्रकारिता : दो दिशाएँ' प्रकाशित हुई तब तक अधिकांश पत्रकार यही कहते रहे कि पत्रकारिता पर अधिक क्या लिखा जा सकता है। किन्तु, मैं उनसे कहता रहता था कि "पत्रकारिता पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है। सामने यह जो संकट प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहा है उसी को ले लीजिये तो तीन-चार सौ पृष्ठों की पुस्तक प्रस्तुत हो जायेगी।" कोई सह-लेखक न मिलने पर मैं स्वयं ऐसी बृहत् पुस्तक लिखने बैठ गया और 'दो दिशाए' का एक बृहद् रूप 'पत्रकारिता : संकट और संत्रास' मैंने पत्रकारिता को भेंट कर दिया। सन्तोष है कि इधर बीस-तीस वर्षों में पत्रकारिता पर पुस्तक-प्रणयन की रफ्तार कुछ तेज हुई है। मैं चाहता हूँ कि संवाददाताओं में से भी कुछ पत्रकारिता पर लिखनेवाले निकल आएँ। जबकि सक्रिय पत्रकारिता से दूर रहते हुए अध्यापन में ही लगे रहने पर एकाधिक व्यक्तियों ने कई पुस्तकें इस विषय पर प्रस्तुत कर दी हों तो हमारे संवाददाताओं में ही दस-बीस क्यों नहीं निकल सकते! यह लेखन-कार्य उनके प्रशिक्षण, उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा स्वाध्याय की चरम-सीमा होगी। उनके लिए मैं यहाँ कुछ शीर्षक प्रस्तुत कर देना चाहता हूँ जिनमें से एकाधिक को लेकर पुस्तकें और कुछ से लेख या निबन्ध लिखने की मेरी इच्छा प्रबल थी। इन सब में मैं कुछ-न-कुछ नई बात जरूर देता। किन्तु, अब क्या लिखूंगा जब शरीर और मस्तिष्क दोनों साथ छोड़ रहे हैं। वे शीर्षक ये है :—

1. विश्व के साहसिक संवाददाता, 2. भारतीय पत्रकारिता का एक परिपूर्ण निष्पक्ष इतिहास. 3. आधुनिकतम मुद्रण तकनीक. 4. महान पत्रकारों के संस्मरण 5. खोजी पत्रकारिता बिना खोज की 6 में और

विचारों का सह-अस्तित्व कितना सम्भव ? 7. पत्रकारिता : साधन या साध्य ? 8. पत्रकारों की अपनी ही स्थिति की खोज, 9. पत्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि, 10. पंक्तियों के बीच पढ़ना क्या ? 11. साहित्यिक पत्रकारिता कितनी पृथक् और कितनी साथ ?

जैसाकि अनेक अवसरों पर कह चुका हूँ, यहाँ फिर कह दे रहा हूँ कि किसी के भी द्वारा इन शीर्षकों से कुछ लिखा देखकर मुझे उतनी ही प्रसन्नता होगी जितनी स्वयं लिखकर। अब जबकि मैं अपने दिन गिन रहा हूँ क्या लिखूँगा ! फिर भी, इन शीर्षकों से भविष्य में लोगों द्वारा कुछ-न-कुछ लिखे जाने पर 'मुझ दिवंगत' की आत्मा को एक शान्ति मिलेगी। इसी शान्ति के लिए यहाँ इस स्तम्भ में कुछ आवश्यक (जैसा इस स्तम्भ में लिखा जाना चाहिए) के साथ ही शायद कुछ अनावश्यक भी लिख गया हूँ।

अन्त में मैं अपने परमादरणीय अग्रज श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी तथा मित्रानुज श्री इन्द्रेश कुमार अग्रवाल के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। चतुर्वेदीजी ने घोर प्रतिकूलता तथा तज्जन्य उत्साहहीनता की स्थिति में मुझसे यह पुस्तक लिखवाकर और अग्रवाल जी ने पूरे उत्साह के साथ इसे दो-दो बार प्रकाशित कर लाखों की एक शक्ति की सेवा करने का जो अवसर तथा उत्साह प्रदान किया है उसके लिए मेरी यह कृतज्ञताभिव्यक्ति औपचारिक नहीं कही जायेगी। भगवती 'सकलशब्दमयी' उन पर अनुकूल रहें।

—हेरम्ब मिश्र
पत्रकारिता-स्वाध्यायाश्रम
2/8 इला० वि० प्राधि० के फ्लैट
तुलसीपुर (रसूलपुर), इलाहाबाद

अनुक्रम

(प्रथम खण्ड)

(द्वितीय खण्ड)

ग्रामीण पत्रकार

संवाद की प्राचीनता और संवाददाता

सृष्टि के सम्बन्ध में भारत के दार्शनिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन, विवेचन या विचार के अनुसार 'आदि वाणी' से प्राचीन कुछ नहीं है और यही 'आदि वाणी' सृष्टि के लिए 'सर्वप्रथम संवाद' मानी जानी चाहिए। स्वयं यह सृष्टि अपने में एक घटना है, वैसे ही जैसे प्रलय अंतिम घटना होगी। मनुष्य सृष्टि के प्रारम्भ के बहुत बाद की रचना है, अत: यह प्रश्न उठ सकता है कि जब सृष्टि को देखने-सुनने और समझने वाला कोई प्राणी था ही नहीं, तब सृष्टि को घटना के रूप में एक संवाद या समाचार कैसे कहा जाय? जो कुछ भी हो, सृष्टि को अपने में एक समाचार मान लेना होगा। सृष्टि से मतलब यदि हमारे अपने इस ससार से ही हो तो हम यह भी कहना चाहेंगे कि सारा संसार अपने में एक समाचार है और सारे समाचार संसार में है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि 'संसार नही तो समाचार नहीं, समाचार नहीं तो संसार नहीं।'

जिज्ञासा—आदि काल से

प्राणी-जगत् का विकास मनुष्य तक होने पर जब जिज्ञासा आयी, तब मनुष्य को यह अनुभव हुआ कि सृष्टि की कभी शुरुआत जरूर हुई थी। इस प्रकार समाचार तो एक बन गया था, किन्तु उसे उसी समय जानने वाला कोई नहीं था। जब उसके जानने वाले उत्पन्न हो गये, तब उन्हें उसकी जानकारी होनी ही थी, यह अनुभव होना ही था कि सृष्टि समाचार के साथ, समाचार लेकर, आयी थी। मानव-रचना होते ही, जिज्ञासा के विकास-क्रम मे समाचारों की रचना खूब होने लगी।

यह सोचना गलत है कि आदि मानव आकांक्षा तथा जिज्ञासा से विहीन था। मनुष्य जो कुछ अपने आसपास देखता था, उसके बारे में कुछ जानने की इच्छा जरूर हो आती होगी। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने से, आसपास घूमते-फिरते रहने पर, यह विचार जरूर आता रहा होगा कि 'कुछ और भी है'। उस समय जिज्ञासा, आकांक्षा तथा उनके अनुसार बनते जा रहे विचार का विकास जितना सम्भव था, उतने से ही मनुष्य आगे बढ़ता गया होगा और उसे कुछ-न-कुछ नये समाचार मिलते रहे होंगे। जबकि जीव-वैज्ञानिकों के अनुसार, उस आदि काल में भी सभी प्राणियों—चलचरों, स्थलचरों तथा नभचरों—में जिज्ञासा नाम की चीज सहज थी, तो मनुष्यों में, जो अधिक विकसित प्राणी था, वह क्यों न रही होगी। इस सहज जिज्ञासा से मनुष्य ने जो कुछ जाना, वही समाचार बनता गया—उसी प्रकार जिस प्रकार आज मनुष्य जो कुछ नया-नया जानता है, वह उसके लिए समाचार हो जाता है।

अपने किसी परिचित के मिलने पर जब हम उससे और वह हमसे हालचाल पूछता है तो यह भी एक समाचार ही होता है और इससे हमारी सहज —रुचि या

प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। कभी-कभी हम 'क्या हालचाल है ?' न पूछकर 'क्या समाचार है ?' ही पूछते हैं। यह कोई नयी रीति नहीं है। आदि मानव ने कुछ आगे बढ़कर जब अपनी एक आदिम सभ्यता रची होगी, तभी से यह शुरू हो गयी होगी—मिलने-जुलने का क्षेत्र बढते जाने पर।

'परिवार की उत्पत्ति' यानी 'पारिवारिक जीवन-प्रणाली' का शुभारम्भ होने के कुछ पहले, जब तक मनुष्य टोलियों में रहता था, ये टोलियाँ एक स्थान से दूसरे पर यह जानने के लिए घूमा करती थीं कि 'क्या आसपास मनुष्यों की कुछ और टोलियाँ है ?' टोलियों के रूप मे उनका जो एक सामूहिक जीवन था, उसकी रक्षा की भी चिन्ता उन्हें लगी रहती थी। इसी चिन्ता से हर टोली आसपास का पता लगाती रहती थी और टोली के जो लोग पता लगाने के लिए साथ नहीं जा पाते थे, उन्हें अपनी जानकारी से अवगत कराती थी। यह जानकारी ही उस समय समाचार थी जो बड़ी दिलचस्पी से सुनी-सुनायी जाती होगी।

हर टोली में युद्ध की प्रवृत्ति तथा सुरक्षा की भावना से कुछ व्यवस्था भी कर लेने की बुद्धि का उत्पन्न होना इसी जानकारी से सम्भव था। प्राप्त जानकारी से टोली के लोग सतर्क होकर दूसरी टोली पर हमला करते होंगे। फिर युद्ध के परिणाम-स्वरूप हार-जीत की कथा अन्य टोलियों तक पहुँच जाती होगी। इस कथा के बाद और समाचारों की रचना इस प्रकार होती थी—पराजित टोली के बच रहे लोगों और विजयी टोली के लोगों का शासक और शासित या स्वामी और दास के रूप में रहना, स्वामी और सेवक की भावना के बावजूद कुछ लोगों का एक-दूसरे में आत्मसात् हो जाना, पराजित लोगों में से कुछ का भाग जाना, टोलियों की सदस्य-संख्या घटना-बढ़ना······।

पारिवारिक जीवन-प्रणाली

पारिवारिक जीवन-प्रणाली प्रचलित होने पर ग्राम-सभ्यता की, ग्राम्य जीवन की और परिणामस्वरूप राजसत्ता की नींव पड़ी तो जानकारी का क्षेत्र और विस्तृत हो गया। जैसाकि ग्राम्य-जीवन तथा ग्राम्य-सभ्यता के विकास के अनेक विवेचकों ने माना है, गाँवों के बीच वैसी युद्ध-भावना नहीं रही जैसी टोलियों के बीच थी। अब सम्पर्क तथा शान्ति की भावना भी उत्पन्न होने लगी जिससे नये तरह के समाचारों का जन्म हुआ। एक गाँव के लोग दूसरे गाँवों के लोगों के कुशल-मंगल की भी बात जानने की उत्सुकता के अलावा पारस्परिक अनुभवों, आचार-विचार, रहन-सहन, कृषि के ढंग, पशुपालन की जानकारी के लिए भी उत्सुक रहने लगे। अब समाचारों की बहुलता के साथ विविधता भी आ गयी।

ग्राम्य सभ्यता में पग गये लोगों ने अपने अनुभव से यह तो समझ लिया कि कलह या युद्ध की स्थिति अच्छी नहीं है; किन्तु, कुछ स्वाभाविक-सा होने के कारण कलह या युद्ध की आशंका से सर्वथा मुक्त नहीं रहा जा सकता था। मनुष्य इतना बुद्धिमान तो हो ही गया था कि मेलजोल की आवश्यकता समझने लगा था; किन्तु उसी बुद्धिमत्ता से वह शान्ति और युद्ध या प्रेम और कलह की भी बात सोचता था जिससे संशयालुता भी पनपती रहती थी। सामाजिक विकास की यह एक सहज स्थिति थी जिसमे सतर्कता तथा आत्मरक्षा की भी दृष्टि से

समाचार प्राप्त किये जाते थे। इस स्थिति ने पड़ोस के गाँवों की ही नहीं, दूर-दूर के गाँवों की भी, अधिकाधिक दूसरी खबरें प्राप्त करने की इच्छा बढ़ा दी। अब खबरें प्राप्त करने के उपायों का बढ़ना भी अनिवार्य था।

चूँकि पड़ोसी गाँव भी बहुत नजदीक-नजदीक नहीं होते थे, इसलिए आज की तरह यह तो संभव नहीं था कि सभी, बारी-बारी से ही सही, आते-जाते रहते। जैसे आज भी किसी शहर के बहुत-से लोग पड़ोस के शहर को भी यावज्जीवन बिना देखे रह जाते हैं, वैसे ही उस समय भी बहुत से लोग अनेक असुविधाओं के कारण अपने ही गाँव में सारी जिन्दगी बिता देते होंगे। बस कुछ ही लोगों का आना-जाना अधिक हो पाता होगा। इन्हीं कुछ आने-जाने वालों से पड़ोसी गाँवों की खबरें मिलती रहती थीं। ये खबरें मौखिक होती थीं। जिनकी बुद्धि तथा स्मरणशक्ति जितनी तीव्र होती होगी, वे उतनी ही तीव्रता या कुशलता से समाचार सुनाते होंगे।

राजसत्ता का उदय होने पर समाचारों के प्रचार तथा प्रसार में और तीव्रता आनी ही थी, क्योंकि राज चलाने के लिए यह आवश्यक हो गया। राजतंत्र का मुख्य उद्देश्य था कि दूसरे राज्यों की शासकीय गतिविधि का पता लगाया जाय—पड़ोसी शासक अपनी सीमा बढ़ाने की कोई योजना तो नहीं बना रहा है, उसकी सेना आक्रमण की तैयारी तो नहीं कर रही है। इसी उद्देश्य के अन्तर्गत यह जानने की भी कोशिश की जाती थी कि पड़ोसी राजाओं की वास्तविक शक्ति क्या है, कितनी है और कौन-कौन से तथ्य अपने अनुकूल और प्रतिकूल हैं। दूसरा मुख्य उद्देश्य अपने ही राज्य के बारे में सही जानकारी प्राप्त करना था—प्रजा में कोई असंतोष तो नहीं बढ़ रहा है, कोई प्रतिद्वन्द्वी व्यक्ति तो नहीं है और है तो क्या विद्रोह की कोई तैयारी कर रहा है।

किसी चीज या बात को सृष्टि के प्रारम्भ से, पौराणिकता से या प्रागैतिहासिकता से जोड़ने का प्रयास व्यर्थ या अवैज्ञानिक लग सकता है, किन्तु जहाँ से और जब से उसके प्रमाण मिलते हों, वहाँ से और तब से तो उसकी ऐतिहासिकता का कुछ अनुमान लगाया ही जायगा। अतः जब से राजसत्ता का उदय हुआ, तब से ऐतिहासिक प्रामाणिकता की छानबीन करके यहाँ संवादों या समाचारों के सम्बन्ध में इतना कहना तो गलत नहीं होगा कि राजसत्ता का उदय होने पर एक समाचार-प्रणाली विकसित होने लगी थी।

राजसत्ता के विचार से हम समाचारों की प्राचीनता को यदि लाखों वर्ष पीछे नहीं ले जा सकते तो हजारों वर्ष तक तो ले ही जा सकते हैं, क्योंकि राजसत्ता का उदय हजारों वर्ष पूर्व हो गया था। राजसत्ता की ऐतिहासिकता के ही विचार से पत्रकारिता के प्रसंग में हम अब यहाँ दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि जबकि पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता के नाम कुछ सौ वर्षों के हैं 'संवाद' या 'समाचार' नाम हजारों वर्ष पुराना है

खच्चर, ऊँट आदि पर या नाव से। पूर्वपाषाण युग से ही अनेक लम्बी यात्राएँ होने के प्रमाण इतिहासकारों ने दिये हैं। दक्षिण भारत में मद्रास, कुदप्पा, चिंगलपुट, कर्नूल आदि में प्राप्त एक विशेष प्रकार के पत्थर 'क्वार्टजाइट' के औजारों से यद्यपि पूर्वपाषाणकालीन मनुष्यों के दक्षिण में ही सीमित रहने का प्रमाण अधिक मिलता है, तथापि उत्तर-पश्चिम मध्य प्रदेश में भी मिले वैसे ही हथियारों से यह भी तो प्रमाणित होता है कि उस भाग के लोगों का सम्पर्क इस भाग के लोगों से जरूर हुआ होगा और इसी सम्पर्क में परस्पर बहुत-सी सूचनाएँ मिलती रही होंगी, बहुत-सी बातें मालूम होती रही होंगी। ये सूचनाएँ और ये बातें समाचार ही तो थीं।

सिन्ध-सभ्यता-काल तो निश्चय ही सूचनाओं या संवादों के आदान-प्रदान में आगे रहा होगा। यद्यपि इस सभ्यता के केन्द्र मोहनजोदड़ो (सिन्ध के लरकाना जिले में सिन्ध नदी तथा नर नहर के बीच) और हड़प्पा (मांटगोमरी जिला) ही थे, तथापि इन दोनों स्थानों की खुदाइयों के बाद अम्बाला, कराँची, चैन्हूदड़ो, झूकरदड़ो तथा केलाल (बलूचिस्तान) की खुदाइयों से इस सभ्यता के काफी दूर तक फैले होने का विचार पुष्ट हो जाता है। इस सभ्यता की जैसी उत्कृष्टता सिद्ध है, उससे ही निश्चित है कि संचार-साधन-व्यवस्था, सन्देश-प्रसारण-व्यवस्था तथा ज्ञान-प्रचार-व्यवस्था बहुत उन्नत थी। सड़कों की उत्तमता से गमनागमन की सुविधा का जो बोध होता है, उससे ज्ञान तथा संदेशों के प्रसार-प्रचार की व्यापकता भी सिद्ध हो जाती है (मोहनजोदड़ो की सड़कें 9 फुट से 34 फुट तक चौड़ी थी)।

सिन्ध-सभ्यता के लोग कई स्थान-जातियों के थे और वे भारत के दक्षिणी भाग, मेडिटरेनियन (भूमध्यसागर), आल्प्स (पर्वत), मंगोलिया तथा पश्चिम एशिया से आकर बसे थे। इसका मतलब यह हुआ कि सिन्ध-सभ्यता-केन्द्र एक विचार-सम्मिश्रण-केन्द्र या विचार-संगम बन गया था और इन स्थान-जातियों का सम्बन्ध उनके मूल स्थानों से बहुत दिनों तक बना रहा होगा जिससे दूर-दूर तक की जानकारी प्राप्त होने का साधन और रुचि जरूर विकसित हो गयी होगी। इस सभ्यता का उदय, विकास, प्रसार और विध्वंस यदि इतिहास का विषय है तो समाचार-कथाओं यानी पत्रकारिता का भी विषय है।

इसी प्रकार ऋग्वैदिक काल में भी दूर-दूर तक की [illegible] मिलती रहना, खबरें जानने और बताने में लोगों की दिलचस्पी इस एक इतिहास-सम्मत [illegible] से स्पष्ट हो जाती है कि उस काल में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बड़े पैमाने पर [illegible] था। समुद्र-मार्ग से [illegible] कई मंत्रों का जो उल्लेख ऋग्वेद में हुआ है, उसे उद्धृत कर इतिहास के विद्वानों ने यह भी बताया है कि समुद्र-यात्रा में किसी के संकटग्रस्त हो जाने तक की जानकारी प्राप्त कर ली जाती थी या हो जाती थी। उन्होंने भुज्यु की कथा उद्धृत की है। एक मंत्र में यह आया है कि "भुज्यु कहीं सुदूर असहाय और परेशान पड़ा है, उसका जलयान टूट गया है।" एक संहिता में एक सौ पतवारों वाली नाव (जहाज) का उल्लेख है।

संवाददाताओं की प्राचीनता

संवाद की प्राचीनता दिखलाने के लिए किये गये उपर्युक्त वर्णन से ही संवाददाताओं

की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। जो कुछ संवाद या सन्देश प्राचीन काल में मिलता था, वह आदमी के ही मुख से तो मिलता था। तो संवाद या सन्देश देने वाले उस समय के आदमी को संवाददाता क्यों न माना जाय ? किसी के कोई नयी बात सुनाने और किसी के उसे सुनने पर ही तो वह बात संवाद बनती है। मनुष्य ने जब संकेत-भाषा को त्याग कर एक बोली जाने वाली भाषा या बोली का विकास किया, तो सुनने-सुनाने का सिलसिला शुरू हुआ और वे सब लोग संवाददाता-से हो गये जो जानकारी प्राप्त कर सुनाने का काम अधिक करते थे।

वस्तुत: संवाद तभी बनता है जब एक ओर उसे सुनाने, देने (बताने) और बनाने वाला हो और दूसरी ओर उसे सुनने या जानने वाला हो। यह सुनने और सुनाने की बात कोई नयी नही है। यह तब से चलती आ रही है जब कोई यह जानता ही नहीं था कि पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता क्या है। जबकि पत्र, पत्रकार और पत्रकारिता का इतिहास कुछ सौ वर्ष का है, 'सवाद' नाम लाखों नहीं तो हजारों वर्ष पुराना है। समाचार-पत्र नाम पहले-पहल तब सुनायी दिया जब चीन में संसार का सबसे पहला समाचार-पत्र निकला—सन् 1340 में। यह छह सौ पचास वर्ष से भी कम की बात है। पत्रकार तथा पत्रकारिता की कल्पना या अवधारणा आधुनिक अर्थ में तो और बाद में आयी—चौदहवीं शताब्दी का अन्त होते-होते।

पौराणिक कथाओं के अनुसार

हमारी पौराणिक कथाओं में नारद का बहुत वर्णन है। घूमते रहना, कहाँ क्या हो रहा है, इसका पता लगाना और इधर की खबर उधर पहुँचाना—यही उनका मुख्य काम मालूम पड़ता है। कहीं झगड़ा लगने या बखेड़ा खड़ा होने से भी बड़े-बड़े समाचार बनते हैं या बना लिये जाते हैं। इस तथ्य से भी हमारा ध्यान नारद की ओर जाता है, क्योंकि अनेक स्थानों पर उनका चित्रण कुछ ऐसा हो गया है, मानो झगड़ा लगाना और बखेड़ा खड़ा करना भी उनका एक खास काम था। वैसे उन्हें हमारे यहाँ त्रिकालज्ञ तो माना ही गया है। संवाद लाने और पहुँचाने में उनकी तत्परता भी प्रसिद्ध है। इन सब गुणों को देखकर उन्हें आज के संवाददाताओं से मिलता-जुलता 'अतिप्राचीन संवाददाता' कहा जा सकता है, जैसाकि अनेक भारतीय पत्रकारों ने कहा है।

हर मन्वन्तर के प्रारम्भ में मनु का उदय भी सन्देश या संवाद लेकर होता माना जायगा। यदि सृष्टि को स्वयं में एक घटना या समाचार कहा गया है तो मनु को संवाद-पुरुष कहा जायगा। इधर महाभारत-काल में इसी प्रकार संजय का उदय एक अद्वितीय संवाददाता के रूप में देखा जायगा। कैसी अद्भुत संवाद-प्रतिभा थी उनमें ! कितना बड़ा युद्ध था वह जिसमें अठारह अक्षौहिणी सेना लगी थी। किन्तु संजय ही थे एक ऐसे पुरुष जिन्हें प्रतिदिन की एक-एक घटना मालूम होती रहती थी और वह धृतराष्ट्र को सुनाते जाते थे। संजय को एक अद्वितीय युद्धक्षेत्र भी कहा जायेगा

बन्द

छोड़ दिया जा सकता है, किन्तु महात्मा बुद्ध के बारे में कोई ऐसा नहीं कहेगा, क्योंकि इतिहासकारों ने उन्हें ऐतिहासिक पुरुष माना है। इस ऐतिहासिक महापुरुष को 'महान् संवाददाता' मानने पर कुछ आधुनिक पत्रकारिता-विद्वानों को उसी प्रकार कुछ आपत्ति हो सकती है जिस प्रकार नारदादि को मानने पर। किन्तु, जब हमारा ध्यान महात्मा बुद्ध की उस शैली पर जाता है जिसमें उन्होंने अपने उपदेश और संदेश दिये हैं, तब हमें वह एक अग्रणी संवाददाता के रूप में भी दिखलायी देते हैं। आज जिसे संवाद-शैली या समाचार-शैली कहते हैं और जिसके बिना किसी संवाददाता या पत्रकार की योग्यता अधूरी मानी गयी है, वही शैली महात्मा बुद्ध की थी। यह उस शैली की ही विशेषता थी जो उनके सन्देश और उपदेश इतने व्यापक हो सके। सच पूछिये तो उनकी शैली आज की समाचार-शैली से भी उत्तम थी और उसे कोई भी पत्रकार अपने लिए अनुकरणीय मानने के लिए बाध्य हो जायेगा।

महात्मा बुद्ध ने वही किया जो आज कुशल संवाददाता बनने और कहलाने के लिए आवश्यक है। वह आवश्यकता यह है कि जनता को जनता की भाषा प जानने की कोशिश की जाय, उसकी समझ की भाषा में, उसकी भाषा में, उससे बातें की जायँ; 'कामनर से भी अधिक कामनर' (साधारण से साधारण व्यक्ति) बन कर उसके हृदय की भाषा समझी जाय और उसी भाषा में उसके लिए संवाद प्रस्तुत किया जाय।

बुद्ध ने जिस शैली का उपयोग और विकास किया, वह उत्तरवैदिक काल समाप्त होते-होते साहित्य में सूत्रशैली के नाम से खूब प्रचलित होने लगी। इसकी आवश्यकता इसीलिए ही पड़ी कि पुरानी शैली दूर-दूर के लोगों के बीच सम्पर्क का सरल माध्यम नहीं बन सकी, जबकि सम्पर्क बढ़ना ही था, बढ़ता ही जा रहा था। जो विद्वान् दूर-दूर तक जाते थे और सन्देश देते तथा लाते थे, उनको स्मरण-शक्ति से ही काम लेना पड़ता था, क्योंकि जितना दूसरों को सुनाना होता था औ' जितना दूसरों से सुनना होता था, उतने-सबके लिए लेखन-सामग्री तथा पुस्तकें ढोना सम्भव नहीं था। स्मरण-शक्ति से काम लेने में सूत्र-शैली ही सहायक हो सकती थी। सूत्र-शैली ने एक तरह से वही काम किया जो आज आशुलिपि या संकेत-लिपि करती है। आधुनिक संवाददाता के लिए जैसे आज आशुलिपि अनिवार्य हो रही है या हो गयी है, वैसे ही उस समय के विद्वानों के लिए सूत्र-शैली अनिवार्य हो गयी थी। सन्देश देने और लाने में सूत्र-शैली का उपयोग करने वाले विद्वान् भी तो एक तरह से संवाददाता ही थे।

महात्मा बुद्ध, जिन्हें हम भगवान् का अवतार भी मानते हैं, यद्यपि अनेक भाषाओं के पण्डित थे, यानी उन पर उनका पूर्ण अधिकार था, तथापि उन्होंने कोई पाण्डित्य-शैली नहीं अपनायी। अपनी शिक्षाओं के लिए उन्होंने लोकभाषा का ही सहारा लिया और उसे विकसित तथा समृद्ध भी किया। उन्होंने लोक-रुचि के अनुकूल और नितान्त सरल-सुबोध शैली में जनता को उपदेश दिये; लोककथाओं, लोकोक्तियों तथा मुहावरों का प्रचुरता से प्रयोग तथा उपयोग किया उपमाओं तथा उदाहरणों का भी प्रयोग वे इस तरह करते थे कि सभी लोग उन सबके माध्यम से उनके सिद्धान्तों को आसानी से समझ जायें जैसाकि बौद्ध ग्रन्थों से विदित है

महात्मा बुद्ध के उपदेशों में हास्य तथा व्यंग्य का भी पुट रहता था। आज की सब
के लिए भी तो यह सब आवश्यक बतलाये गये हैं।

महात्मा बुद्ध के शिष्यों ने वही शैली अपनायी और उसे अपना कर वे
वाहक—संवादवाहक हो गये। यह इस शैली का ही प्रभाव या चमत्कार था कि
वाहकों—संवादवाहकों ने केवल दो-तीन वर्ष के प्रयास से राजगृह, कपिलवस्तु तथा
सशक्त बौद्ध संघ स्थापित कर लिये। यातायात, परिवहन, संचार-साधन आदि की
व्यवस्था के वर्तमान युग के, विकसित देशों के, संवाददाताओं को भी अनेक मश्यन
ईर्ष्या हो सकती है, साथ ही बहुत कुछ सीखने की प्रेरणा मिल सकती है।

चन्द्रगुप्त के काल में

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल में यातायात, संदेशवाहकों तथा संदेशवाहनों
ध्यान देने की आवश्यकता महसूस की गयी जिससे इनका विस्तार तथा इनकी उ
हुई। उस समय तक चूँकि कोई विशाल साम्राज्य स्थापित नहीं हुआ था या पहले
साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गये थे, अतः लोगों के आने-जाने, सामान भेजने, संदेश
सुविधार्थ लम्बी-लम्बी सड़कों का निर्माण नहीं हुआ, या हुआ था तो वे जहाँ-तहाँ कट

इस ओर ध्यान आकृष्ट करने और प्रेरित करने का श्रेय चाणक्य को था
का साम्राज्य सुदृढ़ करने और विस्तृत करने में चाणक्य ने अपनी मेधा, प्रतिभा,
दूरदर्शिता का अद्भुत परिचय दिया। चाणक्य ने यह भी अनुभव किया कि कं
साम्राज्य सब जगह की ठीक-ठीक खबर रखे बिना टिका नहीं रह सकता। इसी
यातायात, परिवहन आदि के अलावा गुप्तचरी को भी बहुत महत्त्व दिया। चाणक
से बना 'गुप्तचरी से युक्त संवादयंत्र' इतना मजबूत हो गया कि चन्द्रगुप्त अन्त
साम्राज्य को अक्षुण्ण रख सका। 'संवादयंत्र' को मजबूत बनाये बिना गुप्तचर-व्य
सफल नहीं हो सकती थी जितनी वह हो गयी।

चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को स्पष्ट आदेश दे रखा था कि गुप्तचर-विभाग को
नहीं बनाना होगा, उस पर बराबर ध्यान भी रखना होगा। ये गुप्तचर सुदूर प्रान्तो
तथा अधिकारियों की एक-एक गतिविधि की खबर रखते थे और उससे केन्द्र को अ
रहते थे। गुप्तचरों को विश्वासपात्र कैसे बनाये रखा जाय—इसका भी उपाय नि
गया था, साथ ही गुप्तचरों पर भी गुप्तचर रखे जाते थे।

ये गुप्तचर केवल प्रशासकीय दृष्टि से ही संवाद एकत्र नहीं करते थे। जो
की दृष्टि से गोपनीय होती थीं, उन्हें छोड़कर बहुत-सी बातें आम जनता की साम
कारी के लिए प्रचारित कर देते थे। यह बहुत ही सावधानी तथा दूरदर्शिता क
जिसका प्रशिक्षण देने की भी एक उत्तम व्यवस्था कर ली गयी थी। उन गुप्तचरो
सकलन तथा प्रेषण की जो कला थी वह आधुनिक पत्रकारों को बहुत कुछ
है, बहुत कुछ सिखा सकती है

आधुनिक पत्रकार-कला में गोपनीयता, गुप्तचरी, सैनिक छद्मावरण आदि का भी महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है। शासनतंत्र के लिए तो इन सबकी शिक्षा दी ही जाती है और यह अनिवार्य भी है; अब तो—आधुनिक पत्रकारिता में—संवाददाताओं के लिए भी यह अनिवार्य हो चली है। सभी संवाददाताओं के लिए यह अनिवार्य हो या न हो, कुछ खास तरह के संवाद एकत्र करने में लगाये जाने वाले संवाददाताओं के लिए बिलकुल अनिवार्य मानी गयी है।

किसी बड़े पत्रकार ने संवाददाताओं को 'गुप्तचरों का गुप्तचर' कहा है। नन्दकुमार-देव शर्मा ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि अमेरिका में संवाददाताओं से उतनी ही घबराहट होती है जितनी पुलिस के जासूसों से। इस कथन से ऐसा लगता है कि प्रायः सभी संवाददाता जासूसी करते थे। शर्मा ने जासूसी के दो-तीन उदाहरण भी दिये हैं। संवाद-संग्रहार्थ संकट तथा साहस का परिचय देने और संवाददाताओं द्वारा गुप्तचरी करने के सैकड़ों उदाहरण विश्व-पत्रकारिता के इतिहास में मिल जायेंगे।

पत्रकारिता की दृष्टि से, खास करके संवाददाताओं के प्रसंग में, प्राचीन गुप्तचरी का अध्ययन तथा उल्लेख आवश्यक है। इसीलिये हमने यहाँ कुछ उल्लेख किया है। इस उल्लेख का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि पत्रकारिता का उद्देश्य बिलकुल उसी अर्थ में संवाद-दाताओं को जासूस बनना-बनाना है जिस अर्थ में शासनतंत्र से जुड़े जासूस देखे जाते हैं।

व्यापारी और यात्री

किसी समय व्यापारी, यात्री और तीर्थयात्री भी तो संवाददाता का ही काम करते थे। व्यापारी एक बाजार से दूसरे बाजार में माल पहुँचाने के साथ-साथ संवाद भी पहुँचाता था। हर बाजार में अन्यान्य स्थानों के व्यापारी जुटते थे जो एक-दूसरे को अपने-अपने स्थान की खास-खास घटनाएँ भी सुनाते थे। वे 'एक पंथ दो काज' वाली उक्ति चरितार्थ करते थे। उनकी वजह से हर बाजार एक अच्छा समाचार-केन्द्र भी बन गया था। इन व्यापारियों के अपने गाँव या कस्बे के लोग उनके मुँह से समाचार सुनने के लिये उत्सुक रहा करते थे। अपने पूरे व्यापार-मार्ग के लोगों को वे समाचार सुनाते जाते थे।

प्राचीन व्यापारियों को उन संवाददाताओं की तरह देखा जा सकता है जिनका मुख्य पेशा तो कुछ और होता है, किन्तु अपने क्षेत्र—जिला, कस्बा या गाँव—के समाचार किसी पत्र मे भेजते रहने के कारण संवाददाता भी कहे जाते हैं।

उन व्यापारियों के समाचारों में कथा-तत्त्व खूब रहता था। आधुनिक समाचार-कथा (न्यूज-स्टोरी) जिस अर्थ में पत्रकारिता में प्रचलित है, उसी अर्थ में हम उस समय की समाचार-कथा को या कथात्मक समाचार को ले सकते हैं। एक ही जगह बैठे रहने वालों और घूमते-फिरते रहने वालों के बौद्धिक विकास तथा अनुभवों में कितना अन्तर होता है—इसे हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। इस समय के अनुसार यह मानने में भी कोई कठिनाई नहीं होगी कि उन व्यापारियों में एक तरह का समाचार-बोध और एक तरह की समाचार-कला भी जरूर विकसित हो गयी होगी। उन [illegible] को [illegible]-यात्री भी कहा जा सकता है

इसी प्रकार, व्यापारियों की तरह, अन्य यात्रियों, तीर्थयात्रियों, धर्मप्रचारकों तथा धर्माचार्यों को भी हम उस समय के संवादवाहक या कुशल संवाददाता मानते हैं। धर्मप्रचारको तथा धर्माचार्यों का काम धार्मिक पुस्तकें पढ़कर उन्हीं के आधार पर मात्र धार्मिक सन्देश देना नहीं था। जिस आम जनता के बीच वे जाते थे और जिन लोगों के अतिथि बनते थे, उनसे वे अपनी किताबी जानकारी को अभिवृद्ध तथा परिमार्जित भी करते थे। यह कार्य वही है जिसकी अपेक्षा आज के संवाददाताओं के जन-सम्पर्क से की जाती है। जिन नयी जानकारियो से किताबी ज्ञान अभिवृद्ध तथा परिमार्जित होता था, वे अपने में संवाद ही तो होती थीं। आम जनता के बीच रहकर संवाद प्राप्त करने और अपने समाचार-पत्र के माध्यम से अधिकाधिक लोगों तक पहुँचाने का जो काम आज का संवाददाता करता है, वही तो धर्मप्रचारक तथा धर्माचार्य करते थे।

व्यापारी व्यक्तिगत चिट्ठियाँ लाने-ले जाने का भी काम करते थे। चिट्ठियों से भी कुछ समाचार मिल जाता था। उनमें उन्हें भेजने वाला प्रायः अपने गाँव की किसी घटना का भी उल्लेख कर देता था और आशा करता था कि उसके उत्तर में जो खास पत्र आयेगा, उसमें उस दूसरे गाँव के भी किसी खास समाचार का उल्लेख होगा।

मुगल-काल की संवाद-व्यवस्था

प्राचीनता के इस वर्णन में अंत में आधुनिक पत्रकारिता के उदय के कुछ ही पहले की—मुगल-काल की—संवाद-प्रेषण-व्यवस्था भी संवाददाता के अपने इतिहास या उसकी पृष्ठभूमि के रूप में ध्यातव्य है। आज का पत्रकार और संवाददाता मुगल-कालीन वाकिया-निगारों, वाकियानबीसों तथा हरकारों को नहीं भुला सकता। बर्नियरके कथनानुसार, अकबर के समय में हर जिले में एक वाकियानबीस (घटना-लेखक) होता था जो नियमित रूप से घटनाएँ लिखता था। वाकियानवीस के ऊपर वाकियानिगार और नीचे हरकारे होते थे। वाकिया-नबीस रजिस्टर में जो उल्लेख करता था, उसका निरीक्षण तथा सम्पादन वाकियानिगार करता था। हरकारे समाचार लाने-ले जाने का काम करते थे। हरकारों का कर्तव्य कम महत्वपूर्ण नहीं था, क्योंकि उन्हें गोपनीयता कायम रखनी पड़ती थी। अकबर ने एक सुव्य-स्थित समाचार-विभाग खोल रखा था। औरंगजेब ने हर मौसम में जल्दी-जल्दी समाचार मिलने की व्यवस्था की थी। कुछ राजमार्गों पर स्थापित अड्डों पर घुड़सवार तैनात रहते थे। एक अड्डे का घुड़सवार दूसरे अड्डे तक डाक पहुँचाकर लौट आता था। डाक मे चिट्ठियाँ ही नहीं, समाचार-बुलेटिन जैसी पाठ्य-सामग्री भी रहती थी।

संवाद और संवाददाता की प्राचीनता के इस संक्षिप्त वर्णन में यदि हमने इन दोनो का सम्बन्ध सीधे सृष्टि के प्रारम्भ से या उसके बाद आदि मानव से जोड़ा है तो यह हमारे लिए स्वाभाविक ही माना जायगा, क्योंकि कोई भी लेखक या वक्ता जब अपने किसी प्रिय विषय पर लिखता या बोलता है तो एक सहज भाव-प्रवणतावश या कल्पनाशीलतावश उसका अपने विषय का) सुदूर अतीत तक से जोड़ देता है यहाँ तो हमने कुछ इस

ढग से जोड़ने का प्रयास किया है कि यह मात्र कल्पनाशीलता न लगे, इसमें कुछ प्रेरक तथा ज्ञानवर्धक तथ्यात्मकता भी दिखायी दे और भावी अध्येताओं के लिए एक आधार का काम करे।

हमारा एक उद्देश्य यह भी है कि पत्रकारों के साथ ही इतिहासकारों को भी यह बता दिया जाय कि इतिहास की पाठ्य-सामग्री का उपयोग अन्य विषयों के भी अध्ययन में रोचकता तथा सरलता से कैसे किया जा सकता है। इतिहास या इतिहास की पाठ्य-सामग्री से सम्बन्धित अन्य विषयों का सरलीकरण तथा उपयोग पत्रकार-कला का आवश्यक तत्व भी तो है। अस्तु, इसी कला के अनुसार, इसी कला के उदाहरणस्वरूप संवाद तथा संवाददाता का सम्बन्ध प्राचीनता से, सुदूर अतीत से, जोड़ना हमें अपने लिए उचित और स्वाभाविक लगता है।

इस प्राचीनता-वर्णन से यह विश्वास भी होता है कि संवाद-लेखन-कला के उत्तरोत्तर विकास में रुचि रखने वाले कुशल तथा चिरजिज्ञासु संवाददाता इतिहास का स्वतंत्र अध्ययन करके अनेक ऐसे रोचक ग्रन्थ तैयार कर सकते हैं जिसे इतिहासकार, इतिहास-अध्यापक तथा इतिहास के गम्भीर विद्यार्थी भी अपने लिए उपयोगी मान लेंगे और पत्रकारिता को भी अपना एक प्रिय विषय बना लेंगे।

वे पुराने और ये नये

यहीं इस प्रारम्भिक अध्याय में अपने को नये यानी आधुनिक मानकर बैठे संवाददाताओं से कुछ पूछ लेना अप्रासंगिक, प्रस्तुत अध्याय से बेमेल, नहीं होगा—यदि वे 'संवाद तथा संवाददाता के इतिहास की प्राचीनता' से अपनी एक 'सत्ता और महत्ता' का बोध करके गौरवान्वित होते हैं तो क्या साथ ही प्राचीन संवाददाताओं की संवाद-सजगता और संवाद-प्राप्त्यर्थ एक विशेष लगन तथा श्रमशीलता का भी कुछ अनुभव तथा बोध करते हैं? क्या उन्हें इतने से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए कि आज उन्हें पत्र का अत्यावश्यक कार्य-सम्पादन करने वाला महत्वपूर्ण अंग मान लिया गया है और पत्रों में उनकी एक ऐसी विशेष स्थिति बन गयी है कि कार्यालय में ही रहकर काम करने वाले सम्पादक-मण्डल के अनेक सदस्यों को, जिनका कर्तव्य तथा दायित्व कम महत्वपूर्ण तथा योग्यतापेक्षित नहीं होता, ईर्ष्या होने लगती है? वस्तुतः आधुनिक कहलाने के लिए जिस स्थिति तथा योग्यता की अपेक्षा है, उसके बिना ही किसी भी स्तर के पत्र से किसी तरह सम्बद्ध होकर अपने स्तर पर सम्पर्क, रोबदाब तथा प्रभाव का एक क्षेत्र बन जाने से ही क्या अपनी कोई वास्तविक सत्ता तथा महत्ता स्थापित हो गयी मान ली जायेगी?

यह सही है कि "यद्यपि आधुनिक पत्रकारिता के इतिहास में भी अनेक स्थानों पर अनेक तर्कों तथा विचारों के अनुसार यह विवाद उठता आया है कि 'सभी संवाददाताओं को वस्तुतः पत्रकार माना जाय या नहीं', तथापि अब उन्हें पत्रकार मान लिया गया है—वे चाहे वाशिंगटन, लन्दन, पेरिस, बर्लिन, मास्को, रोम, टोकियो आदि विश्व के बड़े-बड़े नगरों से

निकलने वाले अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के पत्रों के हों या पिछड़े देश के मात्र जिला-स्तर के किसी पत्र के हों। किन्तु पत्र, पत्रकार तथा पत्रकारिता की स्थितियों का जो अन्तर है, उसे देखते हुए ईमानदारी का तकाजा यह है कि हर संवाददाता आत्मनिरीक्षण करके अपने से स्वयं पूछ ले कि वह किस अर्थ में पत्रकार है और कितना नया (आधुनिक) पत्रकार है। इन पंक्तियों के लेखक का एक निश्चित-सा मत यह है कि प्राचीन काल के जिन-जिन लोगों को हमने संवाद-दाता माना है, वे अपने-अपने समय में जितने आधुनिक थे, उतने आज के अधिकांश संवाद-दाता नहीं हैं।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विज्ञान की प्रगति के साथ अत्यधिक विकसित देशों के आधुनिकतम साधनों से सम्पन्न पत्रों तथा समुन्नत पत्रकारिता से सम्बद्ध संवाददाताओं को ही वस्तुतः या पूर्णतः आधुनिक या प्रगतिशील कहना ठीक होगा। इन संवाददाताओं की शिक्षा-दीक्षा, क्षमता तथा कुशलता भी आधुनिक होगी। इनके मुकाबले आज के विकासशील देशों के भी अधिकांश संवाददाता पिछड़े दिखलाई देंगे। वे अपने-अपने देश में अपने-अपने स्तर पर विज्ञापित, परिचित तथा महत्वपूर्ण कितने हो गये हों, अभी आधुनिक तो नहीं ही हो सके हैं, या हुए हैं तो आंशिक रूप में हो।

विचारों की दृष्टि से तो विकसित देशों के आधुनिकतम चोटी के पत्रकारों में से भी बहुत-से पिछड़े दिखलायी देंगे। आधुनिक कहलाने के लिए इतना ही काफी नहीं है कि "पत्र तथा पत्रकारिता में प्रयुक्त आधुनिकतम तकनीक से सुपरिचित रहा जाय और उनका कुश-लतापूर्वक उपयोग किया जाय," जरूरी यह भी है कि वर्तमान विश्व-समाज को ठीक-ठीक समझा जाय, अन्तिम रूप में यह जान लिया जाय कि समाज किन्हीं मूलभूत आर्थिक-सामा-जिक विधान (अलिखित) से अनुशासित होता है। यह आवश्यकता ऐसी है जिसके लिए विकसित, विकासशील तथा अविकसित देशों की पत्रकारिता के बीच विभाजन रेखाएँ खिंची होने के बावजूद उनके पत्रकारों के बीच कोई विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती और खींचने की कोशिश मूर्खता मानी जायेगी।

हमारे देश की गणना न तो विकसित देशों में है, न पिछड़े देशों में। इसे एक विकास-शील देश कहा जाता है। अनेक मामलों मे, पत्रकारिता के मामले में अभी वह उतना विकास-शील नहीं हो सका है कि अगले कुछ दिनों में ही विकसित देशों से होड़ ले सके। किन्तु, जहाँ तक विचारों तथा चिन्तन की दृष्टि से पत्रकारों का सम्बन्ध है, हमारे कुछ पत्रकार विकसित देशों के चोटी के माने गये पत्रकारों से होड़ ले सकते हैं। यदि हमारे ये कुछ पत्रकार विश्व-समाज को ठीक-ठीक समझ सके हैं यह बात अंतिम रूप से जान गये हैं कि समाज किन्हीं मलभत अ   विधान या सिद्धान्त से   होता है

अपनी प्राचीनता के साथ अपनी आधुनिकता का भी यह संश्लिष्ट बोध संवाददाताओं को अपनी सत्ता तथा महत्ता के प्रति सजग रखते हुए उन्हें अनुचित गर्व तथा भ्रम से बचाने में भी सहायक होगा। अनुचित गर्व तथा भ्रम का कारण यह होता है कि योग्यता उनकी कितनी ही कम क्यों न हो, उनका प्रभाव, गौरव तथा सम्पर्क सम्पादक-मण्डल के किसी विद्वान् तथा पत्रकारिता-मर्मज्ञ सदस्य की अपेक्षा प्रायः अधिक हो जाता है। भारत में लोकतंत्र की जो हालत हो गयी है, उसमें लोकसभा-सदस्य तक नीचे से नीचे स्तर के गाँव के संवाददाता को 'खुश रखने' की कोशिश करता है जिससे वे अपने पत्रकार-व्यक्तित्व का निर्माण अपनी योग्यता, आदर्शवादिता और सिद्धान्तनिष्ठा से नहीं कर पाते।

लाखों की एक शक्ति

संसार में ग्राम-स्तर से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक के संवाददाताओं की संख्या कितनी है—यह ठीक-ठीक बताना कठिन है, क्योंकि अभी तक पत्रकारिता के विशेष अध्ययन या स्वाध्याय की दृष्टि से ऐसी कोई अन्तर्राष्ट्रीय सूचना-संस्था नहीं बन सकी है जो एक-एक तथ्य तथा आँकड़े से परिपूर्ण कोई प्रामाणिक पत्रकारिता-विश्वकोश का निर्माण कर लेती। संयुक्त राष्ट्रसंघ के 'शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन' का भी कोई ठोस प्रमाण इस दिशा में नहीं दिखलायी दिया। उसे प्रेरित करने की आवश्यकता की ओर किसी बड़े पत्रकार का भी ध्यान नहीं गया। यदि उक्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का ध्यान आकृष्ट किया गया होता तो एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो जाती और हम यहाँ संवाददाताओं की ठीक-ठीक संख्या दे सकते, साथ ही उनकी तुलनात्मक स्थिति का भी एक परिचय दे देते—हर दृष्टि से उनका वर्गीकरण करके।

संवाददाताओं की संख्या और उन्नत, विकासशील तथा पिछड़े देशों के संवाददाताओं की सारी तुलनात्मक स्थिति के बारे में हम एक अनुमान ही लगा सकते हैं। अपने अनुमान से बस इतना बताया जा सकता है कि अब संवाददाताओं का एक जाल बिछ गया है और उनकी संख्या लाखों में आ गयी है। अपने ही देश के किसी औसत दर्जे के अखबार को इकाई मान कर मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि पत्र, पत्र के कार्यालय में ही बैठकर काम करने वाले पत्रकारों तथा संवाददाताओं का अनुपात 1 : 5 : 25 का है—यानी किसी पत्र के कार्यालय में ही बैठकर काम करने वाले पत्रकारों की संख्या यदि दस है तो उनसे छोटे-बड़े संवाददाताओं की लगभग पचास है।

हमारे इस व्यक्तिगत अनुमान के अनुसार हिन्दुस्तान की करीब पचीस भाषाओं में प्रकाशित एक हजार से अधिक पत्रों में संवाददाताओं की संख्या दस हजार से कम नहीं होनी चाहिए। वैसे पिछली प्रेस रजिस्ट्रार-रिपोर्ट के अनुसार यह शायद पाँच हजार थी। यह तो एक गरीब देश की गरीब पत्रकारिता से सम्बद्ध संवाददाताओं की संख्या है। यहाँ प्रति हजार आबादी पर बस पन्द्रह अखबार पढ़े जाते हैं, जबकि इसी एशिया महाद्वीप के छोटे-से देशों जैसे, कोरियाई गणतंत्र में प्रति हजार आबादी पर सौ अखबार पढ़े जाते हैं और जापान में तो यह संख्या पाँच सौ तक है।

हमारे देश में और इसी की तरह पत्रकारिता में गरीब अन्य देशों में यदि पत्र-कार्यालयों में ही काम करने वाले सह-सम्पादकों और संवाददाताओं का अनुपात एक और पाँच का है, तो जापान में यह एक और पचीस से कम का नहीं है। आज से लगभग पन्द्रह-बीस वर्ष पहले पढ़े गये एक लेख के अनुसार जापान के 'आसाई शिम्बून' पत्र के के सदस्यों

की संख्या पाँच सौ से अधिक थी। सम्पादक-मण्डल की इसी सदस्य-संख्या से उसके संवाददाताओं की संख्या का अनुमान लगा लिया जा सकता है। उस समय के इसी अनुमान के आधार पर यह अन्दाज लगा लिया जाय कि आज उनकी संख्या कितनी होगी।

इस प्रकार केवल जापान तथा यूरोपीय और अमेरिकी देशों की समृद्ध पत्रकारिता के आधार पर सारे संसार में इनके ही पत्रों के संवाददाताओं का एक जाल बिछा देखा जा सकता है। प्रमुख राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाचार-समितियों के संवाददाताओं की संख्या भी इनसे कम नहीं होगी। दोनों संख्याओं को मिला देने पर यह जाल बहुत बड़ा हो जायगा। संसार के तीन-चौथाई अखबार सम्पूर्णतः तथा एक-चौथाई अंशतः इन्हीं समाचार-समितियों पर निर्भर करते हैं—खास करके सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय तथा अखिलदेशीय समाचारों के लिए।

केवल आँकड़े प्रस्तुत करने के लिए आँकड़े नहीं रखे गये हैं। हमारा मुख्य प्रयोजन तो इनके आधार पर बस यह बताना है कि समाचार-संसार का संचालन वस्तुतः इन्हीं लाखों संवाददाताओं द्वारा ही होता है और इन लाखों की एक शक्ति अपना एक विशेष महत्व रखती है।

एक लम्बी सीढ़ी : श्रेणियाँ

संवाददाताओं की एक लम्बी सीढ़ी है जिससे उनकी श्रेणियों या वर्गों का भी परिचय मिलता है। सबसे नीचे ग्राम-संवाददाता होता है। कुछ मायनों में इन्हें नींव की ईंट भी माना जा सकता है। इनके बाद नीचे से ही, क्रमशः कस्बों, छोटे शहरों, बड़े शहरों, प्रान्तीय राजधानियों और अंत में सबके ऊपर केन्द्रीय राजधानियों में नियुक्त संवाददाता होते हैं। ग्राम-स्तर से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के संवाददाता सीधे पत्रों से सम्बद्ध होते हैं या समाचार-समितियों से सम्बद्ध होकर पत्रों की सेवा करते हैं। समाचार-समितियाँ ग्राम-स्तर पर बहुत कम संवाददाता रखती हैं, किन्तु उनकी अपनी कुछ ऐसी व्यवस्था होती है कि ग्राम-स्तर पर बहुत ज्यादा संवाददाता रखे बिना उनका काम चल जाता है।

जिस नगर से समाचार-पत्र निकलता है, उसी के लिए नियुक्त संवाददाता को स्थानीय संवाददाता कहते हैं। वह पूर्णकालिक होता है, समाचार-पत्र के कायदे-कानून से बँधा होता है और उससे कुछ विशेष दायित्व तथा कर्तव्य की अपेक्षा की जाती है। पत्रकारों में ही उसका स्थान महत्वपूर्ण नहीं होता, नगर में भी वह एक महत्वपूर्ण व्यक्ति बन जाता है। कुछ अन्य खास-खास नगरों में भी पत्र के पूर्णकालिक संवाददाता रखे जाते हैं। वे भी नगर के महत्वपूर्ण व्यक्ति हो जाते हैं—कहीं-कहीं तो स्थानीय संवाददाता से भी अधिक महत्वपूर्ण।

अपनी हैसियत, आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार दूसरे खास-खास नगरों में नियुक्त पूर्णकालिक संवाददाताओं के लिए एक पूरा कार्यालय खोल दिया जाता है जिसमें कुछ और पूर्णकालिक कर्मचारी भी होते हैं। यदि पत्र उदार हुआ और उसने

दाताओं की नियुक्ति कर लेता है। प्रधान संवाददाता को पत्र-प्रतिनिधि भी कहा जाता प्राय: कार्यालय-संचालन का भी भार उसी पर आ पड़ता है।

विशेष अवसरों पर विशेष रूप से भेजे गये संवाददाता विशेष प्रतिनिधि कहे जाते हैं। इनमें औसत संवाददाता की अपेक्षित योग्यता से अधिक योग्यता तथा अधिक अनुभव होते हैं। यह जरूरी नहीं है कि विशेष प्रतिनिधि बनाकर जिसे भेजा जा रहा है, वह वर्तमान संवाददाताओं में से ही कोई हो। हाँ, यह ध्यान रखा जाता है कि वह पहले संवाददाता का काम खूब अच्छी तरह कर चुका हो और अब सम्पादन के अन्य अंगों का भी अनुभव उसे हो गया हो। आम तौर पर, जहाँ स्थानीय संवाददाता ही सर्वप्रमुख माना जाता है और बाहर का कोई कार्यालय-स्थित संवाददाता उसका समकक्ष नहीं बन सका है, वहाँ स्थानीय संवाददाता को ही विशेष प्रतिनिधि बनाकर भेजा जाता है और उसकी अनुपस्थिति के काल में सम्पादक-मण्डल का कोई व्यक्ति स्थानीय संवाददाता का कार्यभार सँभाल लेता है। कभी-कभी तो स्वयं सम्पादक या सम्पादक-मण्डल का दूसरा महत्वपूर्ण (वरिष्ठ) सदस्य ही विशेष प्रतिनिधि के रूप में निकल पड़ता है, जैसे के० रामाराव ने 1951 में नेहरू की प्रथम अमेरिका-यात्रा की रिपोर्टिंग की थी।

चूँकि स्थानीय संवाददाता को अन्यत्र विशेष प्रतिनिधि के रूप में भेजने और उसके स्थान पर सम्पादक-मण्डल के किसी सदस्य को स्थानीय संवाददाता का कार्यभार सँभालने की आवश्यकता पड़ सकती है या स्वयं सम्पादक या सम्पादक-मण्डल के किसी सदस्य को ही विशेष प्रतिनिधि का काम करना पड़ सकता है, इसलिए इसी बात से यह सिद्ध होता है कि सम्पादक-मण्डल के सभी सदस्यों के लिए संवाददाता के अनुभव भी प्राप्त रखना, पहले कभी संवाददाता का भी कुछ काम किये होना, आवश्यक है। इसका और स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि हर पत्रकार को संवाददाता होना ही चाहिए। इस अर्थ के अनुसार, संवाददाताओं की शक्ति—संख्या के रूप में भी—ही पत्रकार-जगत् पर छायी दिखलायी देगी या सम्पूर्ण पत्रकार-जगत् को संवाददाता-जगत् कहा जायेगा।

पत्रकारिता को एक कला कहा जाय या एक शास्त्र या एक विज्ञान, उसमें यह बात सिद्धान्त-रूप में मान ली गयी है कि 'पूर्ण पत्रकार' या 'पूर्ण सम्पादक' बनने के लिए संवाददाता के भी कार्य का कुछ अनुभव, ज्ञान तथा योग्यता अर्जित करना पड़ेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार, 'संवाददाता', 'सम्पादक' तथा 'पत्रकार' शब्दों की कोई पृथकता नहीं माननी चाहिए, इन्हें पर्यायवाची समझना चाहिए। इस सिद्धान्त और संवाद तथा संवाददाताओं की प्राचीनता के विचार से देखा जाय तो पूरी की एक विशाल सेना

देगी।

सामने रखी जा सकती है कि संसार के अनेक चोटी के सम्पादक, जिनमें से कुछ ने सरकारें, हिला दी हैं, पहले संवाददाता भी रह चुके थे। संवाददाताओं का कोई इतिहास ऐसे संवाददाता-सम्पादकों के उल्लेख के बिना दोषपूर्ण कहा जायेगा।

हमारे देश में ही किसी समय जाने कितने पत्रों के सम्पादकों ने सम्पादक-पद पर रहते हुए संवाददाता का भी काम कुशलतापूर्वक किया है। जबकि आज हम देखते हैं कि छोटे अखबारों तक के सम्पादक, जिन्हें परिस्थितिवश स्वयं संवाददाता का भी काम करना पड़ता है, संवाददाता कहलाना पसन्द नहीं करते—यद्यपि उनके अखबारों को 'बुलेटिन' कहकर दूसरे सम्पादकगण उन्हें भी छोटा (तुच्छ) समझते हैं। 'संवाददाता' शब्द को ही तुच्छ समझने की सम्पादकों की प्रवृत्ति अच्छी नहीं है—यह अपने गौरव को स्वयं ठुकराना है।

समाचार-पत्र वैसे तो कार्यालय-स्थित सम्पादक-मण्डल का ही कृतित्व मालूम पड़ता है; किन्तु यदि ध्यान से देखा-समझा जाय तो वह सबसे पहले संवाददाता का कृतित्व है। समाचार-पत्र को 'सबसे पहले' या 'सम्पूर्णतः' संवाददाता का कृतित्व मानने पर आपत्ति हो सकती है। इस आपत्ति को दूर करने या कम करने के लिए हम अपना कथन संशोधित रूप मे यों रख सकते हैं—"समाचार-पत्र कार्यालय में ही बैठे सम्पादकों का ही नहीं, संवाददाताओं का भी कृतित्व है", क्योंकि हम जो भी समाचार प्रकाशित करते हैं, वह किसी न किसी संवाददाता का ही तो दिया हुआ होता है। जिन संवादों या समाचारों के साथ 'निज संवाददाता', 'हमारे संवाददाता', 'कार्यालय-संवाददाता', 'हमारे प्रतिनिधि' या 'हमारे विशेष संवाददाता' लगे होते हैं, उनके अलावा जिन शेष पर समाचार-समितियों के नाम लगे होते हैं, वे भी तो आखिर उन समितियों के संवाददाताओं द्वारा ही दिये हुए होते हैं।

छोटे-बड़े का भेद क्यों

श्री रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर ने स्थिति के आकलन का एक क्रम प्रस्तुत करते हुए सारे समाचरों का स्रोत उस संवाददाता को बताया है जो सबसे छोटा दिखलायी देता है—जिलों में फैले ग्राम-संवाददाताओं को। उनका कहना है कि "किसी देश की राजधानी में रहने वाले देशी और विदेशी संवाददाता देश की स्थिति का आकलन राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय पत्रों से करते है और प्रान्तीय पत्रों को जिलों के पत्रों से स्थानीय स्थिति का पता लगता है। अतः सब समाचारों का मूल स्रोत जिले का संवाददाता होता है।"

खाडिलकर या उनके जैसे पत्रकारिता-अध्येताओं तथा पत्रकारिता पर लिखने वालो के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने संवाददाताओं का यह महत्व जबर्दस्ती स्थापित कर दिया है। हाँ, उनके कथन पर 'महत्व के अनुरूप योग्यता' का प्रश्न उठाने के साथ ही यह पूछना अनुचित नहीं होगा कि प्रान्तीय पत्रों को स्थानीय स्थिति का पता जिलों के पत्रों से कैसे हो सकता है? जिलों के पत्रों से स्थानीय स्थिति का सही पता तो तभी लग सकता है जब जिलों के पत्र सही हों, सही पता लगाने के लिए दत्तचित्त हों और दो-एक ही समाचार देकर न रह जाय यदि जिलो के बहुत छोटे या कुछ छोटे-पत्रों के लिए बहुत अधिक

देना सम्भव न हो तो भी सही-सही समाचार देने वाले ऐसे कई समाचार-पत्रों के दो-दो, एक-एक ही समाचारों से जिले की स्थिति का बहुत अधिक पता लग जायगा।

किसी देश की राजधानी से निकलने वाले समाचार-पत्र वहाँ से निकलने के कारण और एकाधिक अन्य कारणों से भले ही अन्तर्राष्ट्रीय या अखिलदेशीय मान लिये जायँ, उन्हें अपनी राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता के ख्याल से ही देश के हर कोने पर दृष्टि रखनी ही पड़ती है—इसलिए कि पता नहीं कब, किस कोने से कोई बहुत महत्वपूर्ण (अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया वाला) और भीषण समाचार आ जाय। अपने को अखिलदेशीय और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मानने वाले पत्र से यह अपेक्षा की जाती है कि वे हर कोने की घटना के प्रति सजग रहें। यद्यपि ये देश के कोने-कोने में तो नहीं पहुँचते, तथापि अपनी इस सजगता से जब-तब के सवादों से अपना राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप बनाये रखते हैं। इस सजगता में प्रायः 'छोटे' सवाददाता ही सहायक होते हैं। किसी क्षेत्र में इनके 'बड़े' संवाददाताओं को 'छोटे' संवाददाताओं से सम्पर्क रखना ही पड़ता है।

देखिये, अल्जीरिया का भीषण भूकम्प वहाँ के जिस क्षेत्र में आया, उसमें कोई ऐसा बडा नगर नहीं था जहाँ बड़े संवाददाता नियुक्त किये गये हों। भूकम्प का समाचार दुनिया को ठीक समय पर उस क्षेत्र के क्षेत्रीय संवाददाताओं से ही तो मिला। इसी प्रकार अपने देश में भागलपुर में विचाराधीन कैदियों की आँखें फोड़ने का समाचार एक और उदाहरण के रूप में ले लिया जाय। वह जिला-स्तर से ही उठकर तो अखिल भारतीय और फिर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का हो गया। पहले-पहल इसे एक स्थानीय छोटे पत्र के एक स्थानीय ('छोटे') संवाददाता ने ही तो उद्घाटित किया। क्या उस 'छोटे' संवाददाता को अपने महत्व का अनुभव करने का अधिकार नहीं है?

भेद या अन्तर तो पत्र-पत्र, सम्पादक-सम्पादक और संवाददाता-संवाददाता के बीच है ही—पैसे (आय या वेतन) तथा मान-सम्मान का भेद। एक ही नगर से निकलने वाले जिन पत्रों की आय अधिक है, जिनकी प्रसार-संख्या अधिक है, जिनके कई संस्करण निकलते हैं और जो आकार-प्रकार में भी बड़े हैं, वे बड़े कहे जाते हैं और बाकी क्रमशः छोटे (इन्हीं तथ्यों की दृष्टि से)। किसी बड़े पत्र का एक मोटी तनख्वाह पाने वाला सह-सम्पादक छोटे पत्रों के सह-सम्पादकों से भले ही मिल-जुल लेता हो या अपने किसी संगठन में उसे ऊपरी मन से समान मान लेता हो, किन्तु बड़े पत्र का सह-सम्पादक होने और काफी अधिक वेतन पाने से उसमें प्रायः एक गरूर दिखलायी दे जाता है। हमारे देश में अंग्रेजी पत्रों के सम्पादक आज भी अन्य देशी भाषाओं के पत्रों के सम्पादकों से श्रेष्ठतर माने जाते हैं—स्वयं उनमें 'बड़प्पन' की एक

होती है और देशी भाषाओं के अधिकांश ८ से त्रस्त होते हैं।

करता था, किन्तु आज संकोच ही नहीं करता, तौहीनी भी समझता है और इससे अनुशासन बिगड़ने का एक बहाना बताता है। कुछ ऐसा ही रुख बड़े पत्रों और छोटे पत्रों के संवाददाताओं के बीच तथा एक ही पत्र के पूर्णकालिक और अंशकालिक संवाददाताओं के बीच प्रायः देखा जा सकता है।

जो कुछ भी हो, 'सम्पादक' तथा 'संवाददाता' ऐसे शब्द नहीं हैं जिनसे कुछ वैसा ही भेद प्रकट होता हो, जैसा 'अधिकारी' और 'सामान्य कर्मचारी' शब्दों से होता है। अब तो ऐसा कोई पत्रकार-संगठन नहीं है जो अपने से संवाददाताओं को अलग रख सके—पत्र-सम्पादकों की एकाधिक संस्थाओं की बात छोड़ दीजिए। पत्रकार-संगठनों को अपनी संख्या-शक्ति की भी तो एक चिन्ता हो गयी है। अतः वे संवाददाताओं को भी अपने सदस्य बना लेते है। किसी पत्र के अंशकालिक संवाददाता, जिन्हें श्रमजीवी पत्रकार नहीं ही माना जा सकता, 'श्रमजीवी पत्रकार यूनियन' जैसे संगठनों में भी सम्बद्ध सदस्यों के रूप में ले लिये गये हैं। पत्रकार एसोसियेशन में तो उनका मुक्त प्रवेश है ही। औसत दर्जे के अखबार में यदि पूर्णकालिक संवाददाताओं को लेकर सम्पादक-मण्डल की संख्या एक है तो अंशकालिक संवाददाताओं की 10 या 12 है। इस अनुपात को देखते हुए कोई पत्रकार-संगठन इनकी उपेक्षा कैसे कर सकता है?

जैसाकि ऊपर कहा गया है, हम देश के पैमाने पर देखें तो और विश्व के पैमाने पर देखें तो, संवाददाताओं के संदर्भ में ग्राम संवाददाताओं—जिला स्तर के संवाददाताओं—का योगदान सबसे अधिक [illegible] है और यदि पत्रकारिता की दृष्टि से ग्राम क्षेत्र उपेक्षित या पिछड़े न रह जायें तो [illegible] बन जायेगा। [illegible] अंशकालिक संवाददाताओं [illegible] पूर्णकालिक [illegible] अपना महत्व स्वयं बना लेंगे; किन्तु अपने इस महत्व के साथ उन्हें अपनी [illegible] भी [illegible]। [illegible] विश्व के अस्सी प्रतिशत देशों [illegible] बना हुआ है तो इसका कारण 'उन देशों की आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक तथा सांस्कृतिक दुर्दशा है'।

स्थान, पद, अवसर, अनुभव तथा योग्यता यदि एक बात है तो महत्व दूसरी बात है। हम मानते हैं कि सभी को समान अवसर, स्थान, पद या पैसे नहीं मिल सकते और सबके अनुभवों तथा योग्यता में क्रमानुसार अन्तर होता ही है; किन्तु इसी से महत्व का भी निर्धारण कर लेना प्रायः गलत हो जाता है। अपने-अपने विश्लेषण के साथ अपनी-अपनी जगह सबका महत्व होता है।

इस वर्णन या विश्लेषण से संवाददाता की एक सत्ता और महत्ता सिद्ध करने के साथ ही यह भी अत्यावश्यक है कि वास्तविक महत्ता तथा पत्रकारोचित अन्यान्य योग्यताओं के बोध के अभाव में जो एक भ्रम या अहं बन गया है और जो एक तरह की 'दोहरी जिम्मेदारी' उठा ली गयी है, उनके विरुद्ध भी कुछ सावधान कर दिया जाय, कुछ चेतावनी दे दी जाय। यदि कुछ खास-खास लोगों से सम्पर्क हो जाता है और वे अपने प्रचार के लिए या

से बचने के लिए संवाददाता को खुश रखने की कोशिश करते हैं, उनकी आवभगत करते हैं या उनके साथ बराबरी से पेश आते हैं तो यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वे सबके सब खास-खास लोग संवाददाता को सचमुच योग्य और अपना समकक्ष मान लेते हैं।

किसी भी पूर्णशिक्षित और योग्यता-अनुभव-सम्पन्न व्यक्ति के सामने अयोग्यता बहुत दिनों तक छिपी नहीं रह सकती। कोई आई० ए० एस० या पी० सी० एस० अफसर या लोक-सभा-सदस्य, विधानसभा-सदस्य या प्रिन्सिपल यदि सामान्य शिक्षित संवाददाता को लिफ्ट देता है तो धीरे-धीरे उसकी अयोग्यताओं को भी पहचान लेता है। इस तथ्य को जो संवाददाता नहीं समझता, वह भारी भ्रम में होता है और उसके झूठे अहं को कभी-न-कभी चोट जरूर लग जाती है। उसके भारी भ्रम और झूठे अहं का एक कारण—प्रमुख कारण यह भी है कि उपर्युक्त बड़े लोग संवाददाता से ही सम्पर्क बनाकर नहीं रह जाते; सीधे पत्र-संचालकों, व्यवस्थापकों या प्रबन्ध-सम्पादकों और सम्पादकों से भी सम्पर्क रखते हैं जिससे संवाददाता द्वारा अपना महत्व दिखलाने या रोब गाठने की स्थिति में वे उसके कान भी पकड़वा देते हैं। यहीं एक बात और : चूँकि आज भी हमारे समाज में सामाजिक तथा आर्थिक हैसियत से ही आदमी का मूल्यांकन होना बन्द नहीं हुआ है, अतः बहुत-से योग्य संवाददाताओं तक को अपने क्षेत्र के बड़े लोगों से कुछ दबकर इसलिए रहना पड़ता है कि उनकी आर्थिक-सामाजिक स्थिति ऊँची नहीं होती। किन्तु, अयोग्य या कम योग्य संवाददाता के मुकाबले योग्य संवाददाता अपने महत्व का अनुभव करा देता है।

अस्तु, अन्त में योग्यता और योग्यता के विकास की स्थिति पर यहाँ, वर्तमान प्रसंग में भी, एक संक्षिप्त चर्चा कर देना आवश्यक है। संवाददाता की शैक्षिक योग्यता, पत्रकारिता-अभिज्ञता, अनुभव आदि के साथ उसके कर्तव्य तथा आदर्शों को भी देखा जायगा। अधिकांश संवाददाताओं की योग्यता के सम्बन्ध में एक संकट यह है कि वे अपना कुछ 'खाली समय' देकर ही 'संवाददाता का कर्तव्य' पूरा करते हैं। उनका मुख्य पेशा तो कुछ और होता है, पत्रकारिता बस 'खाली समय' के लिए छोड़ दी जाती है। इतने से ही भला संवाददाता-कर्तव्य का निर्वाह कैसे हो सकता है। बेचारे पूरा समय देना भी चाहें तो कैसे दें; आखिर उन्हें जीवन-निर्वाह भी तो करना पड़ता है।

पत्रकारिता को 'सिर्फ खाली समय' के लिए छोड़ देना उन संवाददाताओं के लिए भी अयोग्यता हो जाती है जो सुशिक्षित होते है और योग्यता बढ़ाने की रुचि तथा इच्छा भी रखते हैं। गाँवों में रहकर भी अपनी योग्यता का विकास करने के लिए न तो उन्हें अवसर मिलता है और न वातावरण या स्थिति की कोई अनुकूलता। जिन पत्रों के वे संवाददाता होते हैं, उन्हें भी इनकी कोई चिन्ता नहीं होती। अपने या निकटस्थ गाँव में ऐसा कोई अच्छा वाचनालय भी तो नहीं होता जहाँ चार-पाँच अच्छे समाचार-पत्र आते हों। एक खास बात यह भी तो है कि अभी भी गाँवों में संवाददाताओं की नियुक्ति में शैक्षिक योग्यता का कोई खास ख्याल नहीं रखा जाता। 'लाखों की एक शक्ति' योग्यता की इस स्थिति से कुछ व्यर्थ हो जाती दिखलायी देती है। इस स्थिति को बदलने का मतलब अस्सी प्रतिशत देशों की स्थिति बदलना है जो पत्रकार या पत्रकारिता के बूते की बात नहीं है। जो कुछ भी हो, लाखों की यह एक शक्ति कुछ तो अर्थ रखती ही है।

सम्पर्क और सम्पर्कवाद

'सम्पर्क और सम्पर्कवाद' पत्रकारिता का एक ऐसा विषय है जो सभी पत्रकारो के लिए ध्यातव्य तथा मननीय है; किन्तु इसका सर्वाधिक सम्बन्ध संवाददाताओं से ही है। पत्रकारिता में सम्पर्क का सिद्धान्त, जिसे एक वाद के रूप में रखने पर 'सम्पर्कवाद' भी कहा जाता है, वस्तुतः जन-सम्पर्क का सिद्धान्त है। अन्य पत्रकारों की अपेक्षा सं- ाददाताओ को जन-सम्पर्क बहुत अधिक रखना पड़ता है। अपनी इस निकटता से वह सरकार तक जनता की भावना तथा उनके हालात पहुँचाने में पत्र के सम्पादक-मण्डल का श्रेष्ठतर सहयोगी तथा सहायक होता है। उसे सम्पूर्ण गतिविधि का वास्तविक निरीक्षक मानना चाहिए, बशर्ते उसकी निरीक्षण-दृष्टि पत्रकारोचित हो।

सम्पर्क का सिद्धान्त

संवाददाता के सामने उपर्युक्त विचारों से युक्त एक स्पष्ट अर्थ तथा परिभाषा होनी चाहिए। उसे यह भी जानना चाहिए कि पत्रकारिता मे सम्पर्क का सिद्धान्त कैसे बना, स्थापित हुआ। पत्रकारिता के नये-नये आदर्श ज्यों-ज्यों निर्धारित होते गये, त्यों-त्यों उन्ही आदर्शों के अनुरूप सिद्धान्त भी बनते गये। जन-सम्पर्क का भी सिद्धान्त कुछ आदर्शों के साथ आया। पत्रकारिता में जन-सम्पर्क का सिद्धान्त जनता से बहुत कुछ जानने और उसे बहुत कुछ बताने का—यानी सीखने-सिखाने का—सिद्धान्त है। यह रोज-रोज घटने वाली घट-नाओं या सम्पादित होने वाले कार्यों को समाचारत्व प्रदान करने में सहायक होने के लिए ही बना। इसे निरन्तर घट रही सामाजिक विकास-प्रक्रिया को जानकर प्रस्तुत करने की ·क कला भी कहा जायेगा।

समाज में किस-किस तरह के लोग हैं, विगत समाज-व्यवस्था के ही गर्भ से यदि वर्तमान समाज का जन्म हुआ माना जाता हो तो विगत समाज की कितनी छाप वर्तमान पर है, लोगों के विचारों में किस तरह और कितना परिवर्तन हो रहा है, यानी उनके सोचने-समझने का ढंग आज क्या है और विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं की प्रक्रिया किस वर्ग या समुदाय पर कैसी हो रही है—इन सारी बातों को संवाद-संग्रह तथा संवाद-प्रसारण के माध्यम से जानना या जानने की कोशिश करना ही पत्रकारिता के इस जन-सम्पर्क का सर्वप्रमुख उद्देश्य है।

इस प्रकार देखने पर यह जन-सम्पर्क प्रचुर ज्ञान अर्जित करने (कमाने) का एक बहुत बडा साधन माना जायगा। इसका उपयोग पैसा या नाम कमाने के लिए नहीं, ज्ञान कमाने और कमाये हुए ज्ञान से सर्वसाधारण की सेवा करने के लिए होना चाहिए। इस ज्ञान के साथ किताबी ज्ञान भी है—उसी प्रकार जिस प्रकार सम्पादक के सदस्यो के लिए किन्त जन र्क से प्राप्त ज्ञान के बिना और उसके सही उपयोग के बिना किताबी

ज्ञान अधूरा रह जाता है। किताबी ज्ञान के साथ मिलकर यह जन-सम्पर्क-जनित ज्ञान संवाद-दाता-पत्रकार के व्यक्तित्व तथा मान को बहुत ऊपर उठा देता है और उसकी समीक्षा-बुद्धि तथा विश्लेषणशीलता को कुशाग्र कर देता है। किन्तु, समाज के कुछ खास-खास व्यक्तियो तक ही सीमित रह जाने से ऐसा नहीं हो सकता।

पुलिस-अधिकारियों, दूसरे शासनाधिकारियों, स्थानीय निकायों के सदस्यों, विधान-सभा तथा विधान-परिषद् के सदस्यों, संसद-सदस्यों और मंत्रियों से सम्पर्क स्थापित करना और बढ़ाना वर्जित नहीं है। वर्जित हो भी कैसे सकता है? बहुत से रहस्योद्घाटक, सनसनीखेज समाचारों के सुराग इनके सम्पर्क से ही मिलते हैं। किन्तु, इनसे निर्लिप्त रहकर, केवल समाचार के लिए यह सम्पर्क होना चाहिए। इस सम्पर्क को व्यक्तिगत लाभ के लिए एक 'मेल-जोल' बना लेना जरूर वर्जित है।

यदि सम्पर्क या मेल-जोल का क्षेत्र (दायरा) बढ़ाना सम्भव न हो और सीमित रूप मे भी अनपेक्षित न हो तो इसका उपयोग मर्यादित ढंग से—आदर्श तथा यथार्थता में उचित सामंजस्य स्थापित करते हुए—किया जाय। किसी आदर्श प्रेमी और साथ ही योग्य संवाद-दाता के लिए यह सर्वथा सम्भव है कि वह सबसे सम्पर्क या मेल-जोल रखते हुए किसी से अनुचित रूप में प्रभावित न हो और निष्पक्षता कायम रखे। प्रारम्भ में कितनी ही कठिनाइयो का सामना क्यों न करना पड़े, कोई आदर्शोन्मुख तथा योग्य संवाददाता अपना व्यक्तित्व अन्ततः ऐसा बना ही लेता है कि लोगों को उसे पटाने का साहस ही नहीं हो सकता। ऐसे सवाददाताओं की संख्या निश्चय ही कम है और उनके सामने मुसीबत तब खड़ी हो जाती है जब उनके पत्रों तथा सम्पादकों को ही व्यक्तित्व तथा आदर्श या कम-से-कम 'आदर्श और यथार्थ के सामंजस्य' की कोई चिन्ता नहीं होती।

आदर्श तथा उद्देश्य की पवित्रता के प्रति सजग तथा अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए चिन्तित संवाददाता यह तथ्य अपने सामने हमेशा रखता है कि "भेंट-मुलाकात या सम्पर्क किया तो जाता है पत्रकारिता के एक अभिन्न अंग के नाम पर, किन्तु बाद में हो जाता है स्वार्थ-सिद्धि तथा कृपार्जन का एक साधन"। किन्तु, आज की विकृत स्थिति में बहुतो के सामने यह तथ्य रखने में भी कोपभाजन हो जाने का डर लगा रहता है। ऐसे व्यक्तित्व-सजग सवाददाता बहुत कम हैं जिन्हें यह ·टु सत्य कटु नहीं लगता और इसमें अपना हित दिखलायी देता है बुद्धिमत्ता, विवेक तथा ईमानदारी से देखने पर इसमे नाराज होने की कोई बात नहीं मालूम पड़ेगी

तथा कुशल क्यों न हो, व्यक्तित्व-सम्पन्न संवाददाता के लिए यह असम्भव नहीं है कि वह दबाव-प्रभाव से बचा रहे और धर्म-संकट या संकोच में न पड़े।

सम्पर्कवाद

पत्रकार-व्यक्तित्व तथा पत्रकारिता के आदर्श की रक्षा का दायित्व सबसे पहले संवाददाता पर ही आता है, क्योंकि इन दोनों पर प्रहार का खतरा सबसे ज्यादा सम्पर्क से ही रहता है और यह सम्पर्क प्रथमतः संवाददाता ही स्थापित करता है। सम्पादक-मण्डल के अन्य सदस्य उसके ही माध्यम से लोगों से सम्पर्क स्थापित करते हैं या करने के लिए कुछ लालायित हो उठते हैं। सम्पर्क यदि एक ओर बहुत बड़ी चीज है, पत्र तथा पत्रकारिता का एक प्रमुख आधार है तो दूसरी ओर पत्रकार के व्यक्तित्व को ऊपर उठाने के बजाय उसके पतन का कारण भी हो जाता है।

आज संवाददाता या सम्पादक का सम्पर्क 'वाद' शब्द से जुड़कर निन्दात्मक और अपमानात्मक अर्थ में प्रयुक्त या व्यवहृत होने लगा है। सम्पर्क की जो एक सात्विक प्रकृति है, वह उसकी राजसी और तामसी प्रकृति का प्रतिरोध करने में कमजोर होती जा रही है। इसीलिए सम्पर्क 'सम्पर्कवाद' बन गया है। अपने क्षेत्र में एक बड़ा आदमी हो जाने और अपना महत्व बढ़ा लेने का जो लाभ हो जाता है, उससे जो व्यक्तित्व बनता है, वह पत्रकार का वास्तविक व्यक्तित्व नहीं कहा जाना चाहिए। किन्तु 'सम्पर्कवाद' के अन्तर्गत वही व्यक्तित्व पनप रहा है जो एक बहुत बड़ा भ्रम है, जैसाकि पूर्वोक्त कुछ बातों से इंगित है। पत्र की प्रतिकूलता से बचने तथा अनुकूलता प्राप्त करने के लिए कुछ बड़े लोग अपने बीच पहुँचे संवाददाताओं के प्रति जो विशेष आदर तथा प्रेम दिखलाते हैं, उसी से यह भ्रम उत्पन्न होता है।

सम्पर्क की सात्विकता खत्म हो जाने या कम-से-कम उसकी राजसी प्रकृति की ही रक्षा की सम्भावना न रह जाने के तीन कारण प्रमुख हैं—1. स्वयं सम्पादक या सम्पादक-मण्डल की कमजोरी, 2. आर्थिक स्थिति, और 3. अपनी कुछ सहज-सी हो गयी आदतें और तज्जन्य स्वार्थ। इन तीनों कारणों पर स्वतंत्र अध्याय भी शायद कम ही लगें। यह पत्रकारिता के संकट का बहुत गम्भीर विषय हो गया है जिसे इन पंक्तियों के लेखक ने पत्रकारिता पर अपनी द्वितीय पुस्तक 'पत्रकारिता : संकट और संत्रास' में कुछ विस्तार से रखने की कोशिश की है। यहाँ विस्तार में गये बिना भी बहुत-कुछ समझ में आ जायेगा।

"अपने 'सहज बड़प्पन' से बड़ा न होने या मान्यता न मिलने की स्थिति में बड़े लोगो से सम्पर्क स्थापित करके ही बड़ा कहलाने का लोभ" और "आर्थिक स्थिति बुरी न होने के बावजूद आर्थिक लाभ भी उठाते रहने का लोभ" एक प्रवृत्ति से बन गये है। इन्हें ही हमने सहज-सी हो गयी आदतें माना है। "हमारा इतने बड़े लोगों से परिचय है", "हमें अमुक-अमुक बड़े आदमी जानते हैं"—यह दिखलाने की प्रवृत्ति मध्यम वर्ग तथा निम्न-मध्यम वर्ग मे आमतौर पर पायी जाती है अतः यदि स [illegible] आमतौर पर इन्हीं वर्गों मे स आते हों तो

उनमें भी इस प्रवृत्ति का होना आश्चर्य की बात नहीं है, स्वाभाविक ही है। किन्तु, पत्रकार कहलाने और पत्रकारिता के आदर्शों का ज्ञान होने पर जो एक गौरव बनता है, उसका ख्याल करने पर संवाददाता इस प्रवृत्ति से बच सकता है।

जिस बेचारे संवाददाता की अपनी कोई आर्थिक हैसियत न हो और जिसे अपने पत्र के कार्यालय से कोई पारिश्रमिक या पुरस्कार नाम-मात्र का मिलता हो या मिलता ही न हो, बस सवाददाता कहलाने के लोभ से कुछ कागज-लिफाफे और टिकट पर ही सन्तोष कर लेना पडता हो, उसमें तामसी प्रवृत्ति के रूप में सम्पर्क से व्यक्तिगत लाभ उठाने का विचार आना कुछ स्वाभाविक हो जाता है। अस्सी प्रतिशत संवाददाता तो अंशकालिक ही होते हैं; अतः इन्हे कुछ दूसरा धंधा अपनाये रहना पड़ता है। इससे सम्पर्क का लाभ उठाने की छूट और मिल जाती है। यदि इन्हें पूर्णकालिक बनाकर पूरा-पूरा वेतन दिया जाय तो ये पत्र-कार्यालय के नियंत्रण या अनुशासन में रह भी सकते हैं। किन्तु, यह सम्भव नहीं।

इस सम्बन्ध में सम्पादक या सम्पादक-मण्डल की भी अपनी कुछ 'कमजोरियाँ' है। एक कमजोरी तो यही है कि सम्पादक तथा सम्पादक-मण्डल के दूसरे सदस्य भी संवाददाता के माध्यम से लोगों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। इस उत्सुकता से संवाद-दाता को सम्पर्क की छूट या प्रेरणा और मिलने लगती है। जबकि सम्पादक-मण्डल या केवल सम्पादक को 'संवाददाता' के सम्पर्क पर कुछ नियंत्रण रखना चाहिए, उसे पत्र की मर्यादा का ख्याल रखते हुए ही सम्पर्क स्थापित करने का निर्देश देते रहना चाहिए और सम्पर्क का वास्तविक अर्थ तथा उद्देश्य समझाते रहना चाहिए, वह स्वयं 'सम्पर्क' का शिकार हो जाता है या सम्पर्कवादी बन जाता है। पत्र-संचालकों से तो आमतौर पर आशा की ही नहीं जा सकती कि वे पत्रकारिता के आदर्शों, सिद्धान्तों, उद्देश्यों तथा मर्यादा का कड़ाई के साथ पालन करें-करायें या इन सबके 'पचड़े' में न पड़ें। पत्र-संचालकों के इस हाल से सम्पादक-मण्डल का भी हाल धीरे-धीरे यही होने लगा है।

व्यक्तिगत स्वार्थ भी साधते रहने की प्रवृत्ति लेकर किसी के दरवाजे पर दौड़ने के परिणामस्वरूप प्रतिष्ठा का सौदा करना ही पड़ता है। इस तथ्य को यहाँ अब और विस्तृत न करके हम 'पत्रकारिता : संकट और संत्रास' में उद्धृत एक प्राध्यापक के लम्बे पत्र के कुछ वाक्य यहाँ भी उद्धृत कर दे रहे हैं। उक्त लम्बा पत्र एक पत्रकार-मित्र को लिखा गया था और उसमें सम्पर्कवाद की ही चर्चा मुख्यतः की गयी है। इसे प्रबुद्ध पाठक-वर्ग की एक प्रति-क्रिया के रूप में देखना होगा। इससे पत्रकार-बन्धु यह समझ सकते हैं कि उनके गिरते व्यक्तित्व को अब लोग देखने लगे हैं। मे लिखा है

'पत्र-पुष्प' चढ़ाते रहते हैं। यह स्थिति कहाँ ले जायगी ? एक बात और, आज तो पत्रकारों में मन्त्रियों का कृपा-पात्र बनने की भी होड़ लगी रहती है। जो किसी मन्त्री के कृपा-पात्र नहीं बन पाते, वे किसी संसद्-सदस्य या विधानसभा-सदस्य का ही पल्ला पकड़ने की कोशिश में लग जाते हैं। उन बेचारों को अभागे या मूर्ख ही समझो जो किसी विधानसभा-सदस्य को भी नहीं पकड़ पाते।······यह पत्रकारिता का भाग्य ही है जो ऐसे अभागे या मूर्ख बचे हैं।"

संवाददाताओं का सम्पर्क पुलिस से सबसे ज्यादा दिखलायी देता है। यह कुछ अनिवार्य-सा भी हो गया है। अपने यहाँ अपराध के समाचारों के मामले में तो पुलिस पर ही निर्भर रहा जाता है या रहना पड़ता है। पुलिस से 'मेलजोल' बढ़ाने की शुरुआत प्रायः संवाददाता की ओर से ही होती है जिसस प्रत्यक्षतः पुलिस की ही स्थिति तगड़ी कही जायेगी। अपराध-समाचारों और कुछ अन्य समाचारों के सम्बन्ध में प्रथमतः पुलिस पर ही निर्भर रहने के बावजूद संवाददाता की एक स्थिति कई तरह से दबाव डालने तथा निन्दा-आलोचना के लिए कुछ मुक्त रहने की भी होती है जिससे पुलिस वाले भी संवाददाता या उसके पत्र से कुछ डरते रहते हैं, अतः उन्हें भी संवाददाताओं को कुछ खुश रखने की गरज रहती है। कुल मिलाकर 'संवाददाताओं' और 'पुलिस' के बीच एक समझौते की स्थिति बन गयी है।

पुलिस से बहुत ज्यादा सम्पर्क बढ़ा लेने का जो असर समाचारों पर पड़ता है, उससे आम लोगों में संवाददाता की इज्जत घट जाती है; घट ही नहीं, मिट भी जाती है। कुछ संवाददाताओं को तो गाँव के लोग भी 'पुलिस का एजेन्ट' तक मान बैठते हैं। खेत को लेकर होने वाले झगड़ों या इसी तरह की कुछ और घटनाओं में कभी-कभी यह शंका भी की जाने लगती है कि संवाददाता पुलिस और पक्ष-विशेष के प्रभाव या दबाव में पड़कर संवाद प्रस्तुत करता है। प्रायः यह देखने में आता है कि जो पक्ष आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से प्रबलतर होता है, वह पुलिस को प्रभावित कर या अपने रोब-दाब में लाकर घटना को अपने अनुकूल बना लेता है या बना लेने की कोशिश करता है। इसी प्रकार संवाददाता को भी प्रभावित करने या रोब-दाब में लाने का प्रयास सफल होने पर जो संवाद बनेगा, वह दुर्बल पक्ष के प्रतिकूल जायगा। यह बेईमानी ही तो होगी।

पुलिस से सम्पर्क की बात संवाददाताओं तक तो गनीमत है। जब वह पत्र के सम्पादक, प्रधान सम्पादक या प्रबन्ध-सम्पादकों के साथ भी लग जाय, तब तो हद हो जाती है। पुलिस द्वारा आयोजित किसी समारोह में मुख्य अतिथि की कुर्सी सुशोभित करने या अध्यक्षता करने के लिए पहुँच जाना कम-से-कम अभी तक तो अशोभनीय बात ही मानी गयी है। इसी शताब्दी के प्रारम्भ में ब्रिटेन के एक पत्र के सम्पादक द्वारा ऐसे आयोजन की अध्यक्षता करने पहुँच जाने पर पत्रकार-जगत् में ही नहीं, बाहर भी बड़ा शोर मच गया था। किन्तु, हमारे देश के एक बड़े नगर के एक पुराने पत्र के सम्पादक ने जब अपने नगर के एक पुलिस-आयोजन की अध्यक्षता की और उसके समाचार को अपने पत्र में जरूरत से कहीं ज्यादा प्रमुखता देकर प्रकाशित कराया, तो कहीं किसी ने उँगली भी नहीं उठायी, आश्चर्य तक प्रकट नहीं किया। यदि पूरे देश या अपने प्रान्त की पत्रकारिता के इतिहास में यह पहली 'घटना' न रही हो, उक्त नगर के

पत्रकारिता-इतिहास में तो शायद पहली ही थी। उक्त सम्पादक के सम्पर्क में रहने वालों से ही मालूम हुआ कि आयोजन में आये बड़े पुलिस-अधिकारियों से सम्पर्क स्थापित करके अपना व्यक्तिगत स्वार्थ साधने के लिए ही सम्पादक महोदय ने आयोजन की अध्यक्षता की और उसके समाचार को जरूरत से ज्यादा प्रमुखता दी।

जैसाकि प्रारम्भ में भी इंगित है, पुलिस-अधिकारियों को या और किन्हीं लोगों को नाराज किये बिना और साथ ही उनके दबाव में आये बिना समाचार प्राप्त कर लेना और फिर निष्पक्षतापूर्वक प्रस्तुत कर देना एक आदर्श साधना है, कुशलता है और एक कला भी। किन्तु, स्वार्थी लोगों द्वारा इनका (साधना, कुशलता तथा कला का) परिचय देना असम्भव है। उनकी प्रकृति या आदत ही इनके विरुद्ध हो जाती है। इस स्थिति में (सम्पादक के ही स्वार्थी बन जाने की स्थिति में) बेचारे संवाददाताओं से यह आशा भला कैसे की जा सकती है कि वे अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग रहकर और अपनी बुद्धि तथा अपने विवेक से काम लेकर निष्पक्षतापूर्वक समाचार प्रस्तुत करने का कर्तव्य करते रहेंगे और किसी कुशलता तथा कला का परिचय देंगे !

यह प्रचारप्रियता तथा दूसरे स्वार्थ स्वयं पत्र के सम्पादक में हों तो राजनीतिक-नेताओं और कुछ दूसरे लोगों में तो और अधिक होना स्वाभाविक है और वे संवाददाता या स्वयं सम्पादक के माध्यम से पत्र का उपयोग (दुरुपयोग) क्यों नहीं करना चाहेंगे। आज तो सरकारी अधिकारी भी बड़े प्रचारप्रिय हो रहे हैं। उन्हें प्रचारप्रिय बनाने का 'श्रेय' स्वयं पत्रकारों को कम नहीं है। कुछ सरकारी अधिकारी जब स्थानान्तरित होते हैं तो वे अपने पूर्वस्थान के अखबारों में प्रकाशित अपनी प्रशंसा की कटिंग लेते आते हैं और धीरे से नये स्थान के उन संवाददाताओं को थमा देते हैं जो उनके आते ही उनसे सम्पर्क के लिए दौड़ पड़ते हैं। यदि कोई अभिनंदन-पत्र भी पहले मिला होता है तो वह भी थमा दिया जाता है। इन्हीं सामग्रियों के आधार पर 'किसी तरह समाचारत्व प्रदान करके एक स्तुति प्रकाशित कर दी जाती है।

किसी अधिकारी को कुछ दिनों तक निकट से देख-परखकर और उसके कार्यों का सही मूल्यांकन कर थोड़ी प्रशंसा लिख देने पर आपत्ति नहीं भी हो सकती; किन्तु उसके आते ही स्तुतिगान करने लगना किसी को भी हास्यास्पद या खटकने वाली बात लग सकती है। विदाई के समय थोड़ी-बहुत प्रशंसा का अर्थ तो कुछ समझ में आता है और उसे उतना बुरा नहीं कहा जा सकता। यदि हर आने-जाने वाले अधिकारी की इसी प्रकार प्रशंसा होती रहे तो फिर जनता के हित में आलोचना की गुंजाइश कैसे होगी ?

सम्पर्क-स्थल

इनका प्रयोग कुछ खास अर्थ में—अच्छे अर्थ में—भी होने लगा है जैसे कुछ अच्छे अर्थों में इनके लिए बगुला, बाज, गिद्ध, कुत्ता आदि तक प्रयुक्त हुए हैं। समाचारों के सम्बन्ध में बगुले की तरह ध्यान लगाये रहने, बाज की तरह झपट्टा मारने, गिद्ध की तरह दृष्टि रखने और कुत्ते की तरह सूँघने के से कार्यों की अपेक्षा संवाददाताओं से जितनी की जाती है, उतनी शायद जासूसों से भी नहीं। इन कार्यों के लिए इन्हें अपने कुछ अड्डे बनाने ही पड़ते हैं।

ऐसी दूकानें जहाँ अक्सर हर तरह के लोग गपशप के लिए भी जुट जाते हैं, संवाददाताओं के लिए अच्छे अड्डे का काम करती हैं। इन दूकानों मे पान की दुकानें और जलपान की दूकाने भी शामिल हैं। बस के अड्डे, हवाई अड्डे, रेलवे स्टेशन, बन्दरगाह, अस्पताल, टेलीफोन-एक्सचेंज, कचहरी आदि, जहाँ लोगों की भीड़ लगी रहती है और कुछ समाचारो का सुराग मिलते रहने की खूब सम्भावना रहती है, संवाददाताओं को आकृष्ट करते रहते है। श्मशान तथा कब्रिस्तान तक का चक्कर उन्हें लगाना पड़ता है। पता नहीं, कब इनमें से किसी स्थान से कोई अच्छा समाचार मिल जाय।

एक कुशल संवाददाता जहाँ कहीं पहुँचता है, 'अपनी आँखें और अपने कान खुले रखता है'। किसी योग्यतम साधन-सम्पन्न संवाददाता तक के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह प्रतिदिन इतने स्थानों का चक्कर लगाये। फिर भी वह अपने सम्पर्क-सूत्र इस प्रकार बना लेता है कि उसे कुछ-न-कुछ 'बड़े समाचार' मिल ही जाते हैं। वह इन सभी स्थानों पर कुछ खास लोगों, प्रखर बुद्धि वालों, को अपने परिचित बनाकर उनसे ही काम लेता रहता है। इन्हीं लोगों की सहायता से वह अपने को सर्वव्यापी बना लेता है और उस पर 'एकोऽहं बहुस्यामि' की आध्यात्मिक-दार्शनिक उक्ति खूब लागू हो जाती है।

देश की सीमा भी संवाद की दृष्टि से महत्वपूर्ण होती है। यदि पड़ोसी देश का रुख शत्रुवत् हो तो संवाददाता को गुप्तचर का-सा भी कार्य करना पड़ता है—एक कर्तव्य के ही रूप में। यों भी, पड़ोसी देशों की गतिविधि पर नजर रखना और उनके ऐसे समाचार प्राप्त करते रहना जो अन्य अखबारों को न मिल सके हों, सीमावर्ती क्षेत्र के संवाददाता का कर्तव्य होता है। इस कर्तव्य से वह अपने पत्र का ही नहीं, सरकार और अपने देश का भी एक लायक सेवक हो जाता है और अपना महत्व बढ़ा लेता है। गुप्तचरों के कार्य में जहाँ शासकीय गुप्तचर तक विफल हो जाते हैं, वहीं कोई योग्य संवाददाता अपने को सफल सिद्ध कर सकता है, बशर्ते उसकी योग्यता के साथ उसके पत्र तथा सरकार से अपेक्षित सुविधाएँ भी प्राप्त हो।

आजकल प्राय: हर देश की सीमा तस्करों का अड्डा हो गयी है। अत: यदि संवाददाता के पत्र को तस्करी का भण्डाफोड़ करने वाले समाचारों में जनहितार्थ दिलचस्पी हुई, तो इसके लिए भी वहाँ संवाददाता को विशेष कुशलता—साहस, बुद्धिमत्ता तथा सतर्कता—का परिचय देना पड़ेगा। इस कार्य के लिए नियुक्त संवाददाता का ईमानदार होना, धन के किसी बड़े से बड़े लोभ से बचना भी नितान्त आवश्यक है, क्योंकि तस्करों में ऐसे-ऐसे हैं जो पुलिस या को ही नहीं गुप्तचरों तक को पैसे से भ्रष्ट कर देते हैं

संवाददाता को युद्ध-मोर्चे पर भी अपने अनेक गुप्त अड्डे बनाने पड़ते हैं। यह सर्वाधिक खतरे और साहस का कार्य होता है। यह सभी संवाददाताओं के लिए साध्य नहीं है। युद्ध-मोर्चे पर नियुक्त संवाददाता उन तमाम समाचारों से भिन्न समाचार प्राप्त कर लेता है जो युद्धरत पक्षों से आमतौर पर कुछ आसानी से मिल जाते हैं। युद्ध-संवाददाता को मोर्चे पर अपने अड्डे स्थापित करने में जैसी कठिनाई होती है, जो सावधानी रखनी पड़ती है और जिस बुद्धिमत्ता का परिचय देना पड़ता है—वे सब सभी संवाददाताओं के लिए शक्य नहीं हैं।

संवाददाता बड़ा हो या छोटा, उसकी अपने-अपने स्तर की कुछ अनिवार्य छोटी-बड़ी आवश्यकताएँ होती हैं। अपने ऊपर गिनाये गये अड्डों का नियमित रूप से चक्कर लगाने के लिए वाहन के बिना उसका काम नहीं चल सकता, क्योंकि श्रम के साथ समय का भी ख्याल रखना पड़ता है। बड़े पत्र की बड़ी हैसियत के मुताबिक या हैसियत के ख्याल से ही नहीं, बडी आवश्यकता के ख्याल से भी यदि उसके संवाददाता को कार चाहिए, तो अन्य पत्रों के सवाददाताओं को स्कूटर नहीं तो साइकिल चाहिए ही। जरूरत पड़ने पर किराये के वाहनों से दौड़ना पड़ सकता है। कुछ खास-खास स्थानों के खास-खास संवाददाताओं के लिए टेलीफोन की व्यवस्था करनी पड़ती है। इनके अलावा आराम से ढोये जा सकने वाले टाइपराइटर, कैमरा आदि भी उनकी आवश्यकताओं में आते हैं। डाक टिकट, सादे लिफाफे और कागज आदि तो न्यूनतम सामान्य आवश्यकता की चीजें हैं।

शहर में आने-जाने के लिए रिक्शा, टेम्पो, स्कूटर, बस आदि मिल जाते हैं; बहुत-कुछ रिपोर्टिङ्ग बैठे-बैठे कर लेने के लिए टेलीफोन की सुविधा मिल जाती है; अपना टेलीफोन न होने पर टेलीफोन वालों से अच्छा सम्पर्क होने से उनके ही टेलीफोन का उपयोग कर लिया जाता है। किन्तु, बेचारे गाँव के संवाददाताओं को ये सुविधाएँ कहाँ मिल पाती हैं? किसी दूरस्थ भीतरी गाँव में, जहाँ तक कोई कच्ची सड़क भी न गयी हो, कोई बड़ी घटना घट जाने पर संवाददाता बेचारा पहुँचना चाहे तो कैसे पहुँचे? गाँव में इक्का मिलना भी मुश्किल होता है। यदि किसी तरह मिल भी जाय तो घटनास्थल से दूर ही उतर जाना पड़ेगा और उतने का ही दूना-तिगुना किराया देना पड़ेगा। केवल घोड़ा या खच्चर ही मिल जाय तो उसके लिए भी इसी प्रकार खर्च करना पड़ेगा। साइकिल का उपयोग दस-पाँच मील तक ही सम्भव है। यथाशीघ्र समाचार प्राप्त कर पत्र में भेज देने के लिए तो और अधिक व्यय करना होगा।

सम्पर्क-सूत्र बनाने, कायम रखने और विस्तृत करने का यह जो सर्वप्रमुख कार्य सवाददाता का है, वह इस प्रकार अर्थसाध्य है। इसके लिए अतिरिक्त धन की व्यवस्था सचालक ही कर सकता है। जो पत्र-संचालक अर्थ-सक्षम हैं और इस कार्य का महत्व समझते है, वे अतिरिक्त धन ही नहीं, अधिक से अधिक धन खर्च करने के लिए तैयार रहते हैं। संकटों का साहसपूर्वक सामना करते हुए आत्मोत्सर्ग करने वाले संवाददाताओं के आश्रितों को अनेक विदेशी समृद्ध पत्र-संचालक भरपूर सहायता देते रहते हैं। विशेष अवसर पर रिपोर्टिङ्ग के लिए जाने वाले संवाददाता आने-जाने और ठहरने का भरपुर खर्च पा जाते हैं; उनके साथ कजूसी नहीं बरती जाती

किन्तु, अपने यहाँ अनेक समृद्ध पत्रों तक के संचालक कंजूसी करते रहते हैं, उन्हे अनेक अनिवार्य खर्च भी अपव्यय लगते हैं। जिन सामान्य खर्चों का भार सभी सामान्य पत्र वहन कर सकते हैं और जो आवश्यक भी होते हैं, वे भी सहर्ष वहन नहीं किये जाते। अंश-कालिक संवाददाताओं को तो खर्च के मामले में बिलकुल उपेक्षित छोड़ दिया जाता है। थोड़े-से ऐसे अंशकालिक संवाददाता जरूर मिल जाते हैं जो मात्र 'पत्रकार' कहलाने के आकर्षण या लोभ में अपनी जेब से भी कुछ खर्च करने को तैयार रहते हैं और खर्च करते भी रहते है। किन्तु अधिकांश तो पैसे से कमजोर ही रहते हैं।

कभी-कभी दूरस्थ गाँव में घटी किसी बड़ी घटना का समाचार ठीक समय पर देने के लिए गाँव के अंशकालिक संवाददाता को कम-से-कम सौ-डेढ़ सौ रुपये खर्च करने की आवश्यकता आ पड़ती है, किन्तु वे विवशतावश चाहते हुए भी उदासीन पड़े रह जाते हैं और उक्त समाचार या तो अप्रकाशित ही रह जाता है या फिर देर से प्रकाशित होता है। ऐसी विशेष घटनाओं के अवसर पर कोई गरीब अंशकालिक संवाददाता कहीं से, किसी से, कर्ज लेकर सौ-डेढ़ सौ रुपये खर्च कर देता है तो उसे यह धुकधुकी लगी रहती है कि पत्र-संचालक से वह वसूल हो जायगा या नहीं, पत्र-संचालक कोई तर्क-कुतर्क करके उसे देने में कहीं आना-कानी तो नहीं करेगा।

अंशकालिक संवाददाता, खास करके गाँव का अंशकालिक संवाददाता उतनी आसानी से और उतने अधिक अड्डे भी तो नहीं बना पाता जितनी आसानी से शहरों तथा कस्बों के संवाददाता बना लेते हैं। अपने क्षेत्र में जहाँ-तहाँ कुछ खास अड्डे बनाने की कोशिश की भी जाय तो वह सफल कैसे हो? यह प्रश्न भी इन संवाददाताओं के सामने होता है। एक और प्रश्न यह भी तो है कि इन अड्डों के लिए किसी को उत्साहित और प्रशिक्षित कौन करे? शहरों तथा कस्बों के संवाददाताओं को तो ऐसे व्यक्ति भी मिल जाते हैं या मिल सकते है जो अपने स्वार्थ में ऐसे अवसरों पर संवाददाता की भरपूर सहायता करने को तैयार रहते हैं।

'सम्पर्क और सम्पर्कवाद' की इतनी चर्चा से किन्हीं संवाददाताओं को यह प्रेरणा भी मिल सकती है कि वे अपने भी कुछ व्यक्तिगत अनुभवों से इस विषय को और समृद्ध कर लें। यह चर्चा संवाददाताओं की बैठकों तथा सम्मेलनों में कुछ नये प्रश्न उठाने में भी सहायक हो सकती है।

संवाददाता : बाहर और भीतर

संवाददाता की एक स्थिति पत्र के बाहर होती है तो दूसरी ओर पत्र के भीतर। जहाँ एक ओर—बाहर—वह अपने किसी विशिष्ट व्यक्तित्व से नहीं, प्रायः मात्र इससे कि वह 'एक पत्र का संवाददाता है', रंग गाँठता फिरता है, रोब-दाब दिखलाता है और कुछ प्रभावशाली हो भी जाता है, वहीं दूसरी ओर—अन्दर—वह एक नौकर या नौकर-सा ही होता है और संवाददाता बने रहने के लिए पत्र-संचालकों या उनकी ही तरह उसे संवाददाता-पद से हटा सकने वाले अधिकारियों से वह कुछ डरा भी रहता है, उन्हें खुश रखने की कोशिश मे रहता है और उसे इस बात की चिन्ता सताती रहती है कि कहीं कोई और तो उसके स्थान पर संवाददाता बनने का इच्छुक नहीं है। कभी-कभी तो अन्दर उसे ईर्ष्या का भी सामना करना पड़ता है, पत्र का सम्पादक तक उसके प्रति ईर्ष्यालु हो जाता है और बाहर बने उसके रोब-दाब को कम करने की कोशिशें करने लगता है। यदि बाहर बन गये रोब-दाब और साथ ही अच्छे काम से मालिक संतुष्ट है तो ईर्ष्यालु सम्पादक, जिसका कोई रोब-दाब उस पर (संवाददाता पर) नहीं चल पाता, कुचक्र रचने लगता है—जैसाकि बहुत देखा गया है। अशकालिक संवाददाताओं के सम्बन्ध में तो कुचक्र तक की बात सोचने की नौबत बहुत कम आती है, क्योंकि उनमे ऐसे कुछ ही निकलते हैं जो संचालक को सीधे-सीधे प्रभावित कर पाते हो। किन्तु, पूर्णकालिक संवाददाताओं में से बहुतों को सम्पादक की ईर्ष्या का शिकार होना पडा है।

'संवाददाता : बाहर और भीतर' एक ऐसा विषय है जो पत्रकारिता के अनेक सकटों—योग्यता-संकट, आदर्श-संकट, व्यक्तित्व-संकट, साधन-संकट, प्रोत्साहन-सकट आदि—से जुड़ा है। योग्यता-संकट के कारण ही बाहर संवाददाता के रोब-दाब और प्रभाव कुछ ऐसे नहीं हो पाते कि जिन लोगों पर रोब-दाव और प्रभाव पड़ता है, वे उसके प्रति मन मे वास्तविक आदर का भाव रख सकें और उसे वस्तुतः सम्मानित व्यक्ति मान लें। हमारे देश में अधिकांश संवाददाताओं के सम्बन्ध में योग्यता-संकट का प्रश्न जहाँ तक हल हो सकता था, वहाँ तक भी नही हो सका है। बाहर पत्रकार के सामान्य मान-सम्मान तथा मात्र व्यावहारिक पत्रकारिता की दृष्टि से ही यह संकट परम विचारणीय है। आदर्श-संकट को छोडकर शेष सभी संकट इसी संकट के साथ लगे हैं। बाहर के लोगों की दृष्टि में यदि आज पत्रकारों के व्यक्तित्व-संकट की बात स्पष्टतर होती जा रही है तो वह पहले सामान्य योग्यता-सकट से ही हो रही है, उसके बाद आदर्श-संकट से।

आज के पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान पहले आदर्श-संकट की ओर ही इसलिए नहीं जाता कि वे जिस समाज में रह रहे हैं, वह स्वय बहुत हद तक आदर्शों से दूर पड़ गया है और अति-व्यावहारिक हो रहा है; किन्तु, सामान्य योग्यता की ओर अनायास चला जाता है। अँग्रेजी, हिन्दी उर्दू बँगला आदि के अच्छे [illegible] या अधिकारी लेखकों और उच्चतम शिक्षाप्राप्त

अधिकारियों के सामने जब उनके द्वारा पढ़ी-पढ़ाई गयी भाषा के किसी पत्र का संवाददाता अपनी 'कामचलाऊ भाषा' का और फिर सामान्य ज्ञान का परिचय देता है तो उसकी कलई खुल ही जाती है; यदि वह धड़ल्ले से मिल-जुल लेता है; कुछ बातें कर लेता है और कुछ रंग भी गाँठ लेता है तो बस इसलिए कि एक 'पत्र का आदमी' है—'पत्रकार' ही सही है। उसके प्रति यदि ऊपर से थोड़ी सहिष्णुता, शिष्टता या सम्मान प्रदर्शित कर दिया जाता है तो इसका यह मतलब नहीं होता कि सुशिक्षित व्यक्ति उसके रोब में आ ही जाते हैं। हाँ, अपने बारे में उसके मन में एक भ्रम तो पलता ही रहता है। सुशिक्षित और कुशाग्रबुद्धि संवाददाताओं के बारे में यह बात नहीं होती। किन्तु, प्रश्न यह है कि ऐसे संवाददाता कितने होंगे ?

योग्यता-संकट इसलिए भी है कि साधनों का और प्रोत्साहन का संकट इसके साथ लगा है। अधिकांश पत्रों के आर्थिक साधन ऐसे नहीं हैं कि वे उन संवाददाताओं की नियुक्ति क सके जिन्हें टाइपराइटिंग के साथ आशुलिपि तथा फोटोग्राफी का भी ज्ञान हो और जो किन्ही दो-तीन भाषाओं पर अधिकार रखते हों। कम से कम इन तीन को आवश्यक मान कर नियुक्ति करने पर इनके अभाव में भी किसी के संवाददाता बन जाने की जो एक होड़ होती है और कुछ के बीच ईर्ष्या पनपती है, वे नहीं रह जायँगी। इस प्रकार भीतर की जो एक परिस्थिति संवाददाताओं के सम्बन्ध में संकट की होती है. वह नहीं रह जायगी और बाहर संवाददाता अपना एक योग्यता-सम्पन्न व्यक्तित्व पेश कर सकेगा। यदि संवाददाता ने अपनी पत्रकारिता के कुछ ठोस सिद्धान्तों तथा आदर्शों का भी परिचय दिया तो बाहर उसकी प्रतिष्ठा का और बढ़ना निश्चित है।

यह अध्याय 'योग्यता तथा अयोग्यता' का नहीं है। यहाँ 'संवाददाता की बाहरी और भीतरी स्थिति' को एक अलग विषय बनाने की आवश्यकता महसूस करके इन दोनों—योग्यता तथा अयोग्यता—को इसी विषय के प्रसंग में संक्षिप्त रूप में रख दिया गया है। इस पुस्तक के अधिकांश अध्याय योग्यता-अयोग्यता पर ही तो हैं। इस संक्षिप्त चर्चा के साथ हम आगे कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर देना चाहते हैं—संवाददाता की बाहर और भीतर की दो स्थितियों के उदाहरण।

एक ग्रन्थकार स्वरचित ग्रन्थों के दो-एक सेट एक नगर के एक कॉलिज के पुस्तकालय मे रख लाने के लिए पहुँचे। प्रिन्सिपल ने उन्हें ले तो लिया, किन्तु उनका मूल्य चुकता करने के लिए तीन दिन दौड़ाने के बाद दो-तीन दिन और रुकने को कहा। ग्रन्थकार के साथ उनका व्यवहार भी कुछ वैसा नहीं था, जैसा एक कॉलिज के प्राचार्य का किसी बुद्धिजीवी के साथ होना चाहिए। उन्होंने ग्रन्थकार को एक पुस्तक-विक्रेता के रूप में ही देखा, जबकि वह पुस्तक के प्रकाशक या विक्रेता स्वयं नहीं थे; रायल्टी के एवज में अपनी पुस्तकों की कुछ प्रतियाँ प्रकाशकों से लेकर स्वय बेच लेते थे, ताकि रायल्टी की पूरी रकम शीघ्र निकल आये और अपना काम चले।

अपने प्रति प्राचार्य की सहानुभूति का रुख न देखकर को बड़ा क्षोभ हुआ
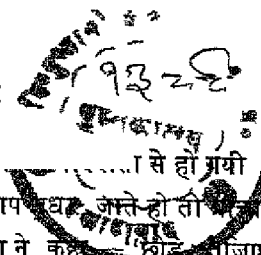
सयोग से उनकी मुलाकात नगर के अचल मे स्थित एक आच. [illegible]ा से हो गयी उन्होंने उसके सामने अपना क्षोभ व्यक्त किया और कहा कि आप [illegible] जाते हो तो [illegible] से मेरी पुस्तकों की प्रतियाँ अब वापस ही लेते आयें। संवाददाता ने कहा—"छोड़ दीजिए मेरे ऊपर। मैं जाकर प्राचार्य को ऐसा हड़काऊँगा कि उन्हें याद रहेगा।" ग्रन्थकार ने उससे कहा—"आप मेरे लिए उनसे ऐसा कोई कड़ा या रूखा व्यवहार न कीजियेगा जो मेरी मर्यादा के विरुद्ध हो।" किन्तु, संवाददाता क्यों मानता। उसे तो संवाददाता होने का गरूर था। सचमुच उसने जाकर ऐसा हड़काया कि प्राचार्य ने क्षमायाचना करते हुए ग्रन्थकार को एक विनम्रतापूर्ण पत्र लिखा जिसमें उन्होंने दूसरे दिन कष्ट करके बस एक बार और आने का निवेदन किया।

एक 'मामूली संवाददाता' द्वारा हड़काये जाने से प्राचार्य के अहं को एक चोट भी लगी। इस प्रकार प्राचार्य से बहुत कम पढ़े-लिखे और बहुत कम हैसियत वाले संवाददाता ने अपनी एक सत्ता और महत्ता दिखला तो दी ही। किन्तु, यह सत्ता और महत्ता ठोस नहीं थी, क्योंकि प्राचार्य महोदय भी अपने अधीत ज्ञान, महत्व, प्रभाव तथा अपनी तीव्रतर बुद्धि से उसकी इस सत्ता तथा महत्ता को व्यर्थ करने की स्थिति में थे और अंततः जिस पत्र से उक्त सवाददाता सम्बद्ध था, उसके और बड़े, योग्यतर तथा महत्तर संवाददाना (पूरे नगर के लिए नियुक्त संवाददाता) तथा सम्पादक से सम्पर्क तथा सम्बन्ध स्थापित करके उन्होंने उसके महत्व को व्यर्थ कर ही दिया। इस उदाहरण से सभी संवाददाताओं के बारे में तो नहीं, अधिकांश के बारे में यह स्पष्ट हो जाता है कि संवाददाता की सत्ता और महत्ता की स्थिति बाहर और भीतर समान नहीं है।

चाटुकारिता व ईर्ष्या

बाहर अपनी सत्ता तथा महत्ता स्थापित करने और अधिकाधिक लाभ उठाने के लिए स्थानीय संवाददाता-पद के लालायित व्यक्तियों में से कुछ भीतर बहुत ज्यादा चाटुकार हो जाते हैं और इन कुछ में से जिन्हें सफलता मिल जाती है, उनमें कोई-कोई ऐसा निकल आता है कि अपने उसी 'बॉस' का ईर्ष्यापात्र बन जाता है जिसकी चाटुकारिता से वह बाहर एक 'बडा आदमी' बन बैठता है और अपनी सत्ता तथा महत्ता स्थापित कर लेता है। आइये एक कहानी इस चाटुकारिता तथा ईर्ष्या की भी सुन ली जाय—

एक सज्जन 'जुम्मा-जुम्मा आठ रोज' पत्रकारिता करने के बाद लगभग पचीस वर्ष इधर-उधर नौकरी करके सम्पादक बन बैठे। इधर-उधर नौकरी के दौरान उन्होंने अनेक सवाददाताओं की सत्ता तथा महत्ता स्वयं देखी थी और उनमें से कुछ से अच्छा सम्पर्क स्थापित करके अपना कुछ विज्ञापन भी करा लिया था—खास करके उन कुछ दिनों में जब वह एकाधिक विद्यालयों में अध्यापक और प्राचार्य थे। अन्त में वह जिस पत्र के सम्पादक बने, उसके मालिक की किसी अन्य व्यावसायिक संस्था में अधिकारी के रूप में रहते हुए उन्होंने अपने को उसका विशेष कृपापात्र बना लिया था जिससे किसी दिन सम्पादक बनने का उनका स्वप्न साकार हो गया।

अपनी प्रचारप्रियता में उन्होंने चाटुकारिता का अच्छा अनुभव पहले से ही प्राप्त कर रखा था और संवाददाताओं की सत्ता तथा महत्ता के उपयोग का भी ज्ञान हो गया था। अब सम्पादक की गद्दी पर बैठ जाने से पाँचों उँगली घी में थीं। उनका पद नाम से तो प्रबन्ध-सम्पादक का ही था, किन्तु चूँकि और कोई व्यक्ति सम्पादक नहीं था, अतः सम्पादक का भी कार्य वही करते थे और लोग उन्हें सम्पादकजी ही कहते थे। पत्र के मालिक को चूँकि जाने कितने दूसरे बड़े-बड़े कारबार देखने पड़ते थे और पत्र से दूर ही रहना पड़ता था, अतः वह सीधी दिलचस्पी नहीं ले पाते थे और अपनी दूसरी कम्पनियों में से किसी एक के जिस बड़े अधिकारी को इस पत्र का संचालन-भार सौंपते थे, वह भी पूरी दिलचस्पी नहीं ले पाता था। इस स्थिति में स्थानीय अधिकारी (व्यवस्थापक या प्रबन्ध-सम्पादक) ही सर्वेसर्वा हो जाता था। तो ये नये अधिकारी भी 'सर्वेसर्वा' हो गये।

'सर्वेसर्वा होगये' नये अधिकारी यानी प्रबन्ध-सम्पादक की चाटुकार-प्रियता तथा ईर्ष्या से सम्पादक-मण्डल के दो सदस्यों का—जो बारी-बारी से स्थानीय संवाददाता-पद पर आसीन हुए और जिन्होंने बाहर कुछ दिनों तक अपनी-अपनी क्षमता तथा कुशलता के अनुसार सत्ता तथा महत्ता प्रदर्शित की—भीतर जो हाल रहा या हुआ, वह बड़ा रोचक है। जो सज्जन पहले से स्थानीय संवाददाता-पद पर थे, उनकी चाटुकारिता तो प्रसिद्ध हो गयी थी—कुछ-कुछ बाहर भी। उन्हें अपनी चाटुकार-कला पर शायद पूरा विश्वास भी था। वह पूरे नौजवान थे जो शायद अपने विद्यार्थी-जीवन में किसी के भी सामने नहीं झुकते होंगे, अपने गुरुजनों की भी बात बर्दाश्त न करते होंगे और अन्य युवकों की तरह बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाते रहे होंगे, यहाँ अखबार के कार्यालय के अन्दर आकर बड़े विनीत हो गये— खास करके अधिकारियों के प्रति।

सर्वेसर्वा बन गये नये अधिकारी (प्रबन्धक-सम्पादक) के सामने तो स्थानीय संवाददाता ने रेकार्ड तोड़ दिया। प्रबंध-सम्पादक अपने बँगले पर हों या कार्यालय में या मार्ग में दिखलायी दे जाएँ, उनका चरण-स्पर्श किये बिना वह नहीं रह सकते थे। इसे वह अपनी 'वास्तविक श्रद्धा' बताते थे और प्रबन्ध-सम्पादक की कुलीनता, विद्वत्ता आदि का बखान कर उन्हें एक श्रद्धेय व्यक्ति मानने के लिए दूसरों को भी प्रेरित करते रहते थे। इतना ही नहीं, उनकी उद्घोषित 'वास्तविक श्रद्धा' के अनुसार उनको बॉस के बँगले पर लोगों ने यहाँ तक देखा कि बॉस कुर्सी पर बैठे हैं और वह फर्श पर। किसी भी देखने वाले पत्रकार को यह सम्पादकों के बीच शेष रह गयी समानता तथा मर्यादा के विरुद्ध लग सकता था, किन्तु श्रद्धेय तथा श्रद्धालु को यह दृश्य या प्रदर्शन बुरा नहीं मालम पड़ता था बाहर सत्ता तथा महत्ता का अस्तित्व बनाये रखने के लिए भीतर यह थी कैसी हालत

में समर्थ थे, किन्तु इस सम्पर्क को बढ़ाने की इच्छा और समाचार के रूप में 'सम्पर्क के विज्ञापन' के विचार अपने किसी विश्वासपात्र को ही बताये जा सकते थे। प्रबन्ध-सम्पादक की इस इच्छा और विचार को पकड़ कर स्थानीय संवाददाता ने स्वय भी उनका 'जनसम्पर्क' काफी बढ़ाया और जनसम्पर्क के नाम पर अनेक आयोजन कराकर समाचार और चित्र खूब प्रकाशित किये। सम्पादक-मण्डल के कोई सदस्य या बाहर के कुछ प्रबुद्ध जन इसे पत्र और पत्रकारिता का दुरुपयोग समझते रहे हों तो क्या? संवाददाता महोदय तो यही कहते फिरते थे कि "हमारे सम्पादक के जनसम्पर्क और विज्ञापन से पत्र की लोकप्रियता बढ़ती है, पत्र का विज्ञापन होता है।"

जो स्थानीय संवाददाता इस प्रकार अपने पत्र के एक अधिकारी की ही सेवा में लगा हो, 'सम्पादक के जनसंपर्क और विज्ञापन से पत्र की लोकप्रियता बढ़ने, पत्रका विज्ञापन होने' की बात से आगे कुछ न सोच सकता हो और जिससे सम्पादक-मण्डल का कोई पत्रकारिता-मर्मज्ञ सदस्य भी बहस करने में डरता हो.........उसकी पत्र के अन्दर कोई वास्तविक सत्ता और महत्ता कैसे हो सकती है? बाहर उसे कितने ही बड़े-बड़े लोग जान जाएँ और महत्वपूर्ण व्यक्ति समझ लें और कुछ सम्मान भी दें; अखबार के भीतर तो उसे बस व्यक्ति-विशेष का दास ही कहा जायेगा।

किन्तु, इतने बड़े दास और विश्वासपात्र को भी स्थानीय संवाददाता-पद से हटना पड़ा, क्योंकि उसका एक प्रतिद्वन्द्वी भी कुछ ही दिनों में विश्वासपात्र दास बन गया। यह प्रतिद्वन्द्वी विश्वासपात्र बनने के लिए जो कुछ कर सकता था, वह तो करता ही आ रहा था, साथ ही नगर के एक विशिष्ट अखिल भारतीय स्तर के बन रहे व्यक्ति के राजनीति-सक्रिय पुत्र से घनिष्ठ मित्रता करके उस व्यक्ति का दबाव डालने में भी समर्थ हो गया। पहले से बैठे विश्वासपात्र और भक्त संवाददाता को हटाने में धर्म-संकट, संकोच और कुछ पीड़ा की एक बात तो थी ही; किन्तु उसकी विश्वासपात्रता को और उत्साहित करते हुए एक अपनी गोपनीय बात के रूप में यह बताया गया कि "मेरा प्रचार बाहरी क्षेत्रों में भी जरूरी है और इसके लिए मैं तुम्हारे-जैसे अपने व्यक्ति के माध्यम से ही जिलों के संवाददाताओं का उपयोग कर सकता हूँ। अतः तुम मेरे लिए और साथ ही अपने लिए अब जिलों के समाचारों का सम्पादन करो।" इसी प्रकार उसे यह भी समझाया गया कि जिलों के समाचारों के सम्पादन का कार्य कम महत्वपूर्ण तथा लाभप्रद नहीं है।

वस्तुतः स्थानीय संवाददाता का पद जिलों के समाचारों का सम्पादन करने वाले के पद से ज्यादा लाभप्रद तथा महत्वप्रद है, क्योंकि जबकि जिलों के समाचारों का सम्पादन करने वाले को दूरस्थ (बाहर-बाहर के) संवाददाताओं के माध्यम से थोड़ा-बहुत सम्पर्क (संवाददाताओं के सम्पर्क से बहुत कम) किसी तरह ही करने का अवसर मिलता है, स्थानीय संवाददाता स्वयं सीधे-सीधे बड़े-बड़े लोगों से सम्पर्क कर लेता है या सम्पर्क का अवसर पा जाता है। अतः उस नये स्थानीय संवाददाता की सफलता बहुत बड़ी कही जायगी। और फिर वह एक ऐसे अखबार के स्थानीय स मना पर जो एक बड़े और राजनीतिक

दृष्टि से महत्वपूर्ण नगर से निकलता था। इसके अलावा पत्र पुराना भी था और उसका नगर में एक स्थान बन गया था।

नया संवाददाता होशियार काफी था और कुछ दूरदर्शी भी। अतः उसने ऐसा विचार या रुख प्रकट नहीं होने दिया कि उसे अपने भीतरी बॉस से ज्यादा भरोसा बाहरी किसी बॉस का है। वह भीतरी बॉस के प्रति आदर और श्रद्धा बढ़ाता ही गया और अन्ततः यह विश्वास जमा दिया कि वह पूर्ववर्ती स्थानीय संवाददाता से कहीं अधिक विश्वसनीय है। इस विश्वस-नीयता उसने बॉस को इतना मुग्ध कर लिया कि बॉस महोदय उसे पुत्रवत् मानने लगे। तभी तो एक बार जब प्रेस-कर्मचारियों की जबर्दस्त हड़ताल हो गयी तो उसने अपने 'पिता' के बँगले पर पहरेदार का भी काम किया। 'पिता' की रक्षा के लिए या पिता की ओर से कर्मचारियों को आतंकित करने के लिए उसने कहीं से एक पिस्तौल भी प्राप्त कर ली थी जिसे लटकाये रहता था।

इस स्थानीय संवाददाता ने अपने स्थानीय संवाददाता-पद, अपने भीतरी बॉस और बाहरी बॉस (नेता-विशेष) के बल पर देखते-देखते शहर और जिले के तमाम बड़े अधिकारियों तथा प्रमुख नागरिकों से अच्छी मित्रता कर ली और इन सबको अपने भीतरी बॉस के बँगले पर और भीतरी बॉस को इन सबके बँगलों पर लाना-ले-जाना शुरू कर दिया। भीतरी बॉस के घर जब उनकी लड़की की शादी पड़ी, तब इसी सेवक के सम्पर्कवाद से नगर के बड़े-बड़े अधिकारियों तथा प्रसिद्ध नागरिकों की कारों का एक 'काफिला' लग गया। बॉस ने अपने निवास-स्थान पर इसके पूर्व कभी भी इतनी कारें लगी नहीं देखी थीं। वह अपने 'सेवक-सहायक' के प्रति इससे कितना उपकृत हुआ होगा, यह अनुमान कोई भी लगा सकता है।

ईर्ष्या का शिकार

किन्तु, कुछ ही दिनों बाद कहानी दूसरी शुरू हो गयी। यह दूसरी कहानी शुरू हुई स्थानीय संवाददाता के घर पड़ी एक शादी से ही। संवाददाता का निवास-स्थान भव्य और विशाल तो नहीं था (किराये का ही था), किन्तु अगल-बगल के मकानों में भी स्थान लेकर जैसी सजावट उसने की, जैसी दावत उसने दी और गाड़ियों का जैसा काफिला लगाया, उन सबको देखकर भीतरी बॉस दंग रह गये और उनके मन में यहीं से ईर्ष्या का बीजारोपण हुआ। अपने संवाददाता का यह रंग उन्हें चुभने लगा और उन्होंने फिर उसी व्यक्ति को यहाँ बैठाने का निश्चय किया जिसे जिलों के समाचारों के सम्पादन का कार्यभार दिया गया था।

निश्चय ही स्थानीय संवाददाता ने नगराधिकारी की-सी या उससे भी बड़े अधिकारी की-सी स्थिति बना ली थी और इससे वह अपनी एक सत्ता तथा महत्ता का अनुभव करने लगा था, किन्तु वह यह नहीं देख-समझ सका कि भीतर उसकी वैसी ही कोई सत्ता और महत्ता नहीं है कि अपनी बाहरी स्थिति को अक्षुण्ण बनाये रख सके। बॉस ने भी तो अपने उच्चतर पद तथा पत्र के सर्वेसर्वा हो जाने की स्थिति का लाभ उठाकर अपनी भी एक सत्ता तथा महत्ता स्थापित कर ली थी पत्र के मालिक मालिक के विशिष्ट तथा अनेक

अखिल भारतीय नेताओं से 'बॉस' की जो निकटता हो गयी थी, उसके कारण स्थानीय संवाददाता की बाहरी सत्ता और महत्ता कुछ न कर सकी और उसे नगर संवाददाता-पद से हटा दिया गया।

ईर्ष्या ! उसी व्यक्ति के मन में ईर्ष्या जिसने उसे 'पुत्रवत्' मान लिया था जिसके विज्ञापन में वही विश्वासपूर्वक सहायक हो सकता था और हुआ भी ! उसी व्यक्ति से ईर्ष्या जिसने बाहर अर्जित अपने प्रभाव तथा 'अपने किसी बड़े बाहरी बॉस' के बल की कोई धौंस कभी नहीं दिखलायी थी और कभी कोई साधारण विरोध या मतभेद तक व्यक्त नही किया ! ! !

ईर्ष्या का यह परिणाम सामने आते ही 'पिता-पुत्र का-सा सम्बन्ध' समाप्त हो गया और उसका स्थान शत्रुता ने ले ली। स्थानच्युत संवाददाता ने उस पत्र से शीघ्र सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, क्योंकि भीतर उसे अपमान का अनुभव होने लगा। सम्पादक-मण्डल के अन्य सदस्यों के, खास करके पहले वाले स्थानीय संवाददाता के, साथ या सामने बैठने में उसे झेंप होने लगी और अपने सभी प्रतिद्वन्द्वियों तथा दूसरों के व्यंग्यबाण से उसका कलेजा और छिदने लगा। अपने नगर तथा आसपास के स्थानों में उसकी जो महत्ता तथा सत्ता बन गयी थी, वह देखते-देखते समाप्त होने लगी। किन्तु, एक बाहरी बड़े व्यक्ति का भरोसा तो था ही और कुछ ऐसे सम्पर्क स्थापित हो ही गये थे जो यों ही नहीं मिट जाते। कुछ दिन इधर-उधर घूमने के बाद एक महानगर से प्रकाशित एक अच्छे साप्ताहिक का वह सम्पादक बन गया—बावजूद इसके कि उसे पहले किसी साप्ताहिक या मासिक या पाक्षिक के सम्पादन का कोई अनुभव नहीं हुआ था और दैनिक में संवाददाता के कार्य के अलावा और कोई कार्य—शिफ्ट-इन्चार्ज का, समाचार-सम्पादक का या कोई सहायक का कार्य—उसने नहीं किया था।

अपने पिता-तुल्य बॉस से, जो अब 'राक्षस' हो गये, नाता तोड़ने के बाद उसने उनकी छीछालेदर करने की कुछ कोशिश की; किन्तु सफल नहीं हो सका, क्योंकि आम तौर पर कोई स्थानीय पत्र का संचालक किसी दूसरे पत्र के अधिकारी या मालिक द्वारा परित्यक्त व्यक्ति का पक्ष लेना अपने हित में नहीं समझता। उसने साप्ताहिक का सम्पादक बनने के पहले उसी नगर के एक अन्य धूमधाम से निकले पत्र में और आसपास के अन्य नगर से निकलने वाले पत्रों में अपना वही पद (स्थानीय संवाददाता का) पाने की बहुत कोशिश की; किन्तु अपने पहले से चुने हुए व्यक्ति को हटा कर उस व्यक्ति को, और एक परित्यक्त व्यक्ति को, कौन स्थान देता ? इस प्रकार स्थानीय संवाददाता के रूप में उसने नगर में और बाहर भी जो कुछ सत्ता और महत्ता बनायी थी, वह मिट गयी—उसी प्रकार जिस प्रकार उसके ही जैसे अनेक स्थानीय की मिटते देखी गयी है देखी जाती है और आगे भी शायद देखने को मिलती

रही होगी। यह विशिष्टता संवाददाता के लिए अनिवार्य या अपेक्षित योग्यताओं, बाहर और भीतर समान रूप से सम्बन्ध बनाये रखने की व्यवहार-कुशलता और विद्यालयीय उच्च शिक्षा के साथ पत्रकारोचित अतिरिक्त अध्ययन, मनन तथा चिन्तन से बनी होती है।

विशिष्टता में व्यवहार-कुशलता का अपना एक विशेष स्थान है। यह एक बुद्धिवादी, आदर्शवादी तथा सिद्धान्तवादी की व्यवहारकुशलता होती है जो सामान्य—दूसरों की—व्यवहारकुशलता से ऊँची और कुछ भिन्न होती है। भीतर पत्रस्वामी तथा संचालन-अधिकारियों का कोपभाजन बने बिना विनम्रतापूर्वक असहमति या विरोध भी प्रकट कर देना और साथ ही किसी हद तक सिद्धान्तवादिता तथा आदर्शनिष्ठा का पालन कर ले जाना—यही इसकी उच्चता तथा भिन्नता होती है। इसी प्रकार बाहर विशिष्ट संवाददाता की विशिष्ट व्यवहारकुशलता कई तरह से प्रकट होती है। किन्तु यह व्यवहार-कुशलता बहुत सरल नहीं है। यह एक कुछ कठिन बौद्धिक साधना है जिसकी अपेक्षा, आज या कभी, सभी संवाददाताओं से नहीं की जा सकती।

संकट और साहस

आज जिस प्रकार अन्य किसी क्षेत्र में मानवीय मूल्यों, आदर्शों तथा सिद्धान्तों के लिए किसी भी संकट का सामना करना यानी साहस का परिचय देना एक कल्पना या अपवाद हो गया है, उसी प्रकार पत्रकारिता में भी यह कल्पना या अपवाद होता जा रहा है। आदर्शवादिता, सिद्धान्तनिष्ठा और मानवीय मूल्यों की रक्षा का स्थान कोरी व्यावहारिकता ने ले लिया है या ज्यादा-से-ज्यादा बस यही विचार रह गया है कि आदर्शवादिता तथा सिद्धान्तनिष्ठा और व्यवहारवाद में समझौता करके चला जाय। यह समझौता प्रायः व्यवहारवाद या व्यावहारिकता के पक्ष में ही अधिक होता है। जहाँ तक संकटों का सामना करने और साहस का परिचय देने का प्रश्न है, व्यवहारवाद या व्यावहारिकता में भी आये दिन संकटों का सामना करने और साहस का परिचय देने की आवश्यकता पड़ती रहती है। आधुनिक पत्रकारिता मे कहीं-कहीं तो यह प्रवेशार्थी के लिए प्रमुख शर्त होती है।

यह समझना कठिन नहीं है कि परिवार हो या राष्ट्र, व्यक्ति हो या समष्टि, उस पर आ गयी किसी विपत्ति के निवारणार्थ और रक्षार्थ कष्ट सहने के लिए, संकट से जूझने के लिए और पराक्रम तथा साहस का परिचय देने के लिए तैयार रहना पड़ता है। ऐसी स्थितियो मे आलसी या आरामपसन्द व्यक्ति भी आलस्य तथा आरामतलबी का और कायर तथा भीरु व्यक्ति भी कायरता तथा भीरुता का त्याग करने को बाध्य हो जाता है। ये परिस्थितियाँ ही आलसी तथा आरामतलब व्यक्तियों को उद्यमी बना देती हैं। अतः इन परिस्थितियों में जब समाचारों में अधिक गर्मी आ जाती है, संवाददाताओं से उद्यमशीलता, साहसिकता तथा निर्भीकता का परिचय देने की आवश्यकता क्यों न समझी जाय ?

संवाददाता को दिन और रात, जाड़ा, गर्मी और बरसात, जंगल, पहाड़ और रेगिस्तान की परवाह न करके निकल पड़ने के लिए तैयार रहना पड़ता है। उसे युद्धक्षेत्र में भी जाना पड सकता है और शत्रु-देश का समाचार प्राप्त करने के लिए गुप्तचर का काम करना पड़ सकता है। वह प्रतिबन्धित सीमा का उल्लंघन करने का खतरा मोल लेने को तैयार रहता है। ऐसे ही जाने कितने काम की उससे अपने देश की सीमा के अन्दर और बाहर अपेक्षा की जाती है। इन सारे कार्यों में गालियाँ सुनने, लात-जूते खाने से लेकर जिन्दगी भर के लिए लँगड़े-लूले हो जाने और जान गँवाने तक की नौबत आ सकती है।

जिस प्रकार सैनिकों को कई दिनों तक भूखे-प्यासे रह जाना पड़ता है, सिगरेट तक की आदत छोड़ देनी पड़ती है, उसी प्रकार युद्ध-संवाददाता भी इस स्थिति को भोगने के लिए तैयार होकर निकलता है। जब वह गुप्तचर का-सा कार्य करने निकलता है, तब इसी तरह की स्थिति आती है जान देने तक के लिए तो वह तैयार रहता ही है जान लेना भी उसके लि

जरूरी हो जाता है। इसके लिए उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह सैन्यविज्ञान तथा गुप्तचरी में सुशिक्षित तथा प्रशिक्षित हो—शस्त्रास्त्रों का प्रयोग करना जानता हो और छापामार-युद्ध, छद्मावरण (कैमाफ्लेज), कपट-वेश आदि में निपुण हो। निर्भयता तथा साहस के अलावा वाक्पटुता, हाजिरजवाबी, चालाकी, शत्रु की कैद से निकल भागने की कला आदि गुण भी उसके लिए आवश्यक हैं।

संवाद-गुप्तचरी चाहे देश में करनी हो या विदेश में या युद्धक्षेत्र में, इसके लिए बड़े संयम, धैर्य, सहिष्णुता आदि का भी परिचय देना होता है। संवाददाता की एक परिभाषा मे उसे 'गुप्तचरों का भी गुप्तचर' कहा गया है। यह कला वह किसी गुप्तचरी-प्रशिक्षण संस्था मे या गुप्तचर-मण्डली में रहकर प्राप्त नहीं करता, बल्कि अपनी तीक्ष्ण बुद्धि तथा अनुभवो से प्राप्त करता है, क्योंकि कोई गुप्तचर-संस्था या गुप्तचर-मण्डली उसे अपने साथ रखने को तैयार नहीं हो सकती। ऐसा संवाददाता पत्रकारिता के ही स्वार्जित विशेष ज्ञान से ऐसी गुप्त से गुप्त बातों का पता लगा लेता है जिनकी ओर पूर्ण प्रशिक्षित जासूसों का भी ध्यान नही जाता।

यदि अपने देश का किसी देश से युद्ध हो रहा होता है या अपने देश की सेना किसी देश मे सहायतार्थ जाती है तो अपने देश के संवाददाताओं का कुछ विशेष ध्यान जरूर रखा जाता है, फिर भी, उनके संकट में पड़ने या शत्रु-सैनिकों द्वारा पकड़ लिये जाने की सम्भावना तो बनी ही रहती है। यद्यपि युद्ध के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय विधान या परम्परा के अनुसार उनके साथ सख्ती या दुर्व्यवहार नहीं होना चाहिए, तथापि वह यह मानकर चलता है कि सख्ती या दुर्व्यवहार होंगे ही।

उत्साह और प्रेरणा

आधुनिक पत्रकारिता में अग्रणी देशों में एक ऐसी स्थिति बन गयी है कि पत्र-संचालको की ओर से आर्थिक प्रोत्साहन तथा सम्मान-प्रोत्साहन प्रस्तुत रहते ही हैं, साथ ही संवाददाता स्वयं अपने को उत्साहित और प्रेरित रखते हैं। वहाँ ऐसे पत्र-संचालक नहीं हैं जो संवाद-प्राप्ति मे जान गँवा देने वाले के आश्रितों के भरण-पोषण की जिम्मेदारी लेने से उसी प्रकार कतराते हो जिस प्रकार बहुत-से देशों में कतराते हैं। अपने साहसिक कार्य में हीनांग या अपांग हो गये संवाददाता को मुआवजा बराबर मिलता रहता है। ऐसा बहुत कम होता है कि मुआवजा के लिए उसे अदालत की शरण लेनी पड़े। अनेक पत्रों में संवाददाताओं के लिए अत्युत्तम बीमा-व्यवस्था कर रखी गयी है। सोलहो आने तो यह नहीं कहा जा सकता कि वहाँ ऐसी जिम्मेदारी से बचने के लिए कोई पत्र-संचालक शरारत या तिकड़म करता ही नहीं। फिर भी स्वयं संवाद-दाताओं का उत्साह देखकर ऐसा लगता है कि कुल मिलाकर स्थिति अच्छी है।

अमेरिका में संवाददाता संवाद-प्राप्ति के लिए साहस के ही रूप में कभी-कभी ऐसे कार्य कर बैठते हैं जो स्पष्टत या आमतौर पर माने जाते हैं ऐसे जुर्म में पकड़े जाने पर उन्हें पत्र के मालिक बचा लेते हैं—एक नैतिक वहाँ तो

को कोई भी जुर्म करने की मानो किसी रूप में छूट मिली हुई है। संवाददाताओं को बचाने के लिए समाचारपत्रों ने आपसी प्रतिद्वन्द्विता को भुलाकर एक गुट भी तो बना लिया है। चूंकि सरकार भी पत्रों तथा संवाददाताओं का कोपभाजन बनने से बचना चाहती है, इसलिए न्यायालय से किसी संवाददाता के अपराध-मुक्त न होने पर भी, चुनाव में जीतने के लिए गवर्नर तो आमतौर पर क्षमादान कर ही देता है।

अधिकांश देशों के पत्रों की या तो आर्थिक स्थिति ही ऐसी नहीं है कि वे ऐसे साहसिक कार्य करायें और उन्हें करने वाले संवाददाताओं को पूरा प्रोत्साहन दें, या आर्थिक स्थिति अच्छी होते हुए भी वे ऐसे कार्य के लिए अपने संवाददाता भेजने की आवश्यकता ही नहीं समझते और दूसरे तरीकों से कुछ काम निकाल लेते हैं। युद्धक्षेत्र में जान गँवा देने वाले या हीनांग अथवा अपांग हो गये संवाददाताओं के पारिवारिक खर्च की जिम्मेदारी को कौन कहे, यदि संवाददाता को संवाद की टोह लगाने के लिए हफ्ते दो हफ्ते बाहर रहना पड़ जाय और आवास, भोजन, सवारी आदि पर वह अपने पास से ही खर्च कर दे तो वह भी मुश्किल से मिलता है और पत्र-संचालन में ऐसे खर्चों की आवश्यकता के अनुभव तथा ज्ञान से शून्य पत्र-स्वामी इसे व्यर्थ का खर्च समझते हैं। संवाददाता पर बराबर इसी प्रकार इतना खर्च करते रहने की बात तो सोची ही नहीं जाती।

अमेरिका में ऐसे संवाददाताओं का कितना ख्याल रखा जाता है—इसका एक जबर्दस्त उदाहरण यह है कि जब एक संवाददाता के साहसिक कार्य से प्रसन्न होकर उसके मालिक ने उसका वेतन बढ़ाया तो सभी पत्रों ने स्वेच्छा से अपने संवाददाताओं के वेतन बढ़ा दिये। यह आज से पचास वर्ष पहले की बात है। उस संवाददाता का वेतन बढ़ते ही संवाददाताओं का वेतन प्रति सप्ताह भारत के 108 रुपये के बराबर कर दिया गया, जबकि पहले 54 भारतीय रुपये के बराबर था।

ब्रिटेन के द्वितीय महायुद्धकालीन प्रधानमंत्री विन्स्टन चर्चिल के बारे में हमें ऐसा लगता है कि युद्ध-संवाददाता के रूप में उन्होंने जो साहसिकता, पत्रकारोचित राजनीतिज्ञता तथा योग्यता दिखलायी थी, उसी के पुरस्कारस्वरूप उन्हें प्रधानमंत्री तक का पद मिल गया। दक्षिण अफ्रीका में बोअर-युद्ध के समय एक अत्यन्त साहसिक तथा मेधावी संवाददाता के रूप में वह एक बहुचर्चित व्यक्ति हो गये और राजनीतिज्ञों ने उन्हें लोक लिया। वह 'मॉर्निङ्ग पोस्ट' के युद्ध-संवाददाता बनाकर उस युद्ध में भेजे गये थे। वह बोअरों के फंदे में बुरी तरह पड़ गये थे, किन्तु बड़ी होशियारी से उनसे बच निकले। वह जलसेना के एक अफसर भी रह चुके थे। पत्रकारिता के विशिष्ट अनुभव तथा ज्ञान से ही वह मन्त्रिमण्डल में प्रविष्ट हुए और बाद में प्रधानमन्त्री बन गये। कोई स्वाधीनता-स्वतंत्रताप्रेमी पत्रकार भी चर्चिल को एक कट्टर साम्राज्यवादी के रूप में देखकर उनका निन्दक होते हुए पत्रकार-बिरादरी के नाते उनकी इस साहसिक पत्रकारिता पर गर्व करेगा या कम-से-कम प्रशंसा जरूर करेगा।

ये कुछ उदाहरण

जूरियों की आँखों में को एक में कत्ल का एक मुकदमा चल

रहा था। जूरियों ने यह निर्णय कर रखा था कि जब तक परस्पर कोई मत स्थिर न हो जाय, भेद प्रकट न किया जाय। किन्तु, एक समाचार-पत्र के संवाददाता को जब मालूम हुआ कि जूरियों ने निर्णय रोक रखा है, वह उसे प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो गया। काम आसान नहीं था—बड़े साहस और सूझबूझ की जरूरत थी। उक्त संवाददाता अपने दो सहयोगियों के साथ रस्सा और झूला लेकर अदालत-भवन पर पहुँच गया। वे तीनों पहरेदार की नजर बचा कर कमरे की छत पर चढ़ गये। कमरे के पीछे एक खिड़की थी, वहीं खड़े होकर सब-कुछ सुनना था। नीचे ही नीचे उस खिड़की तक जाना सम्भव नहीं था। दो संवाददाताओं ने रस्सा पकड़ा। एक उसे साधकर नीचे उतर गया और खिड़की के पास रस्से में बँधे झूले में बैठ गया। उसे जूरियों की बातें बहुत अच्छी तरह सुनायी दे रही थीं। वह पूरे पाँच घंटे बैठा-बैठा कार्यवाही के नोट लेता रहा। अन्य दो सहायक भी वहीं निडर खड़े रहे।

दूसरे ही दिन इन तीनों अपने अखबार में जब पूरी रिपोर्ट छप गयी तो जूरियों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। अखबार के इन 'भूतों' से बचने के लिए दूसरे दिन दूना पहरा बैठा दिया गया। किन्तु वे तीनों आत्मविश्वासपूर्वक मानो किसी चमत्कार से पहुँच ही गये। वे सबकी आँखों में धूल झोंककर अदालत के एक कोने में जा छिपे। उधर चारों ओर ताले पड़ गये। एक ऐसे स्थान से, जहाँ कोई नहीं था और न किसी की निगाह पड़ने की सम्भावना थी, एक संवाददाता कान लगाकर सुनता रहा। दूसरे दिन अखबार ने चालाकी यह की कि उसने कुछ नहीं छापा। इससे तीसरे और चौथे दिन की भी रिपोर्ट लेने में बाधा नहीं पड़ी।

जूरियों की सलाह पक्की होने में चार दिनों में सत्रह घंटे लग गये। अब ये जूरी अखबारी भूत से निश्चिन्त थे। उन्होंने शायद सोचा कि पहले दिन संवाददाताओं के हाथ जो लग गया सो लग गया, अब क्या लगेगा। किन्तु, तीन दिनों बाद जब फिर दूसरी रिपोर्ट छपी तो जूरियों का आश्चर्य दूना हो गया, उनके दिमाग चकराने लगे। सरकारी हलकों तथा अखबारी दुनिया में एक हलचल मच गयी। अदालत में घुसना, पहरेदारों की आँखों में धूल झोंकना पहले दिन ही बहुत बड़ा कार्य था, उसके बाद वह और बड़ा तथा आश्चर्यजनक हो गया। संवाददाता पहरेदारों द्वारा मारे-पीटे जाने और झगड़ने के लिए भी तैयार होकर निकले थे। यह मामूली आश्चर्य, साहस तथा आत्मविश्वास का काम नहीं था।

—स्व० नन्दकुमार देव शर्मा की पुस्तक 'सम्पादन-कला' से

युद्धक्षेत्र में—बोअर-युद्ध की समाप्ति पर 'डेलीमेल' के संवाददाता की साहसिकता तथा कुशलता से उक्त पत्र में सन्धि-परिषद् की बातचीत परम गोपनीयता के बावजूद लगातार कैसे प्रकाशित होती रही, इस पर शर्माजी ने 'सम्पादन-कला' में लिखा है—

"बोअर-युद्ध की समाप्ति पर सन्धि की बातचीत के दौरान ही, तमाम अड़चनों तथा सेन्सर के बावजूद वे सारी बातें 'डेलीमेल' में प्रकाशित हो जाती थीं जो सन्धि-परिषद् में होती थीं सन्धि के कर्ता-धर्ता हैरान थे पहले लोगों की समझ यह थी कि डेलीमेल' गप्प

उडा रहा है, किन्तु सन्धि की स्वीकृत सब बातें सर्वसाधारण को प्रकट कराये जाने पर लोगो ने देख लिया कि 'डेलीमेल' की सब बातें सही है—स्वीकृत-सन्धि के विवरण और 'डेलीमेल' की रिपोर्ट में कोई अन्तर नहीं है। आज तक किसी को इसका रहस्य मालूम नहीं हो सका।

सन्धि स्वीकृत हो जाने के बाद 'डेलीमेल' ने समाचार-प्राप्ति का जो वृत्तान्त लिखा, वह बड़ा विचित्र है। उसने महीनों पहले से प्रबन्ध कर रखा था। एक प्राइवेट 'कोड' (सांकेतिक शब्द-समूह) बनाया जिसकी एक प्रति पत्र के कार्यालय में रखी गयी थी और एक युद्ध-संवाददाता को दे दी गयी थी। कोड व्यापारिक भाषा में था। जो उसका भीतरी अर्थ नही जानते थे, उनके लिए वह बाजार-भाव और आर्थिक बातों का द्योतक था। इन्हीं शब्दो मे युद्ध-संवाददाता जोहान्सबर्ग से तार पर तार लन्दन के एक व्यापारी के नाम भेजता था। लोग इसे सोने-चाँदी की दर समझते थे। व्यापारी के आफिस से तार डेलीमेल के आफिस पहुँच जाते थे। वहाँ कोड की कुंजी से उनका वास्तविक अथ लगाया जाता था।

"संवाददाता ने सन्धि-विधायकों के कैम्प में अपना एक गुप्तचर छोड़ रखा था—शायद किसी भृत्य के रूप । गुप्तचर और संवाददाता में भेंट या पत्र-व्यवहार होना असम्भव था। दोनों ने कुछ इंगित कर रखा था या इशारे ठीक कर लिये थे। जब सन्धि-परिषद् के लोग ट्रेन द्वारा लौटते थे, तब वह गुप्तचर उसके भीतर से एक खास जगह पर हाथ से इशारा कर देता था और युद्ध-संवाददाता को सारी रिपोर्ट मिल जाती थी।"

—नन्दकुमार देव

नन्दकुमार देव ने स्वयं अपने दो अनुभवों का विवरण दिया है जो इस प्रकार हैं—

1

मार पड़ी, गोली लगी—"नवम्बर का महीना था। थोड़ी बूंदा-बाँदी हो रही थी। बरसाती कोट पहना; आँखों को बचाने के लिए टोप को आगे झुका लिया और जेबों में हाथ डालकर अँधेरे में चल पड़ा। गलियाँ बिलकुल सुनसान थीं। कहीं भी आदमी नजर नहीं आता था। रात के समय अँधेरे में जब हाथ को हाथ नहीं सूझता था, ये गलियाँ डर से खाली नही थी। और कई तो प्रकाश में भी डर से खाली नहीं थीं। रात बड़ी ठंडी थी, अतएव पुलिस-स्टेशन पर पहुँचने के लिए मैंने चौड़े मार्ग को छोड़कर अँधेरी चक्करदार गलियों का रास्ता पकड़ा। गली में थोड़ी दूर घुसकर मैंने कुछ फासले पर क्रोध में चिल्लाते हुए एक आदमी की आवाज सुनी और थोड़ी देर में दो आदमियों को उस तंग गली में दौड़ते हुए अपनी ओर आते देखा। मुझे देखते ही वे एक-दूसरे से अलग हो गये और कुछ चलते हुए, कुछ भागते हुए आगे बढ़कर अन्धकार में विलीन हो गये। उन्हें देखते ही मेरे हृदय में यह विश्वास हो गया कि वे कोई खोटा काम किये बिना नहीं रहेंगे। किन्तु इतनी दूर आगे निकल जाने पर मैंने उनका पीछा करना उचित नही समझा।

मैं धीरे-धीरे आगे चला। मैं कुछ ही दूर आगे बढ़ा था कि एकाएक मुझे अपने पास किसी शराबी की सुनायी दी क्या फिर लौट आया ? अच्छा यह लो' मुझे रात में

एक अस्पष्ट आकृति दिखलायी दी। अँधेरे में दो चिनगारियाँ निकलीं और दो कड़क ध्वनि मेरे कानों में पड़ी। बार खाली गया। परन्तु, दूरी 6 गज की भी न थी। मुझे सोचने के लिए कुछ भी समय नहीं था। यदि मैं खाली हाथ उसकी ओर बढ़ता तो निस्सन्देह गोलियों का शिकार होता। चकित और विस्मित मैं एक तंग गली में घुस गया। परन्तु मैंने देखा कि मेरा पीछा किया जा रहा है। सौभाग्य से वह गली एक बड़े मार्ग में जा मिली।

एक पुलिसमैन यह गुल-गपाड़ा सुनकर गली के मोड़ पर आकर खड़ा हो गया। सबसे पहले उसने मुझे ही देखा। अमेरिका के पुलिसमैन अपने को खतरे में डालना पसन्द नहीं करते, इसलिए जब मैं उसके पास से निकला, तब उसने दूर से मेरे सिर पर एक डंडा जमा कर धरती पर मुझे गिरा दिया और जब मेरा पीछा करने वाला गली से निकला, तब उसने वही व्यवहार उसके साथ भी करना चाहा; किन्तु, इस बार उसका डंडा ऐसा उछला जैसे किसी लोहे के घन पर पड़ा हो। ज्यों ही पुलिसमैन दूसरा वार करने लगा, त्योंही उस दूसरे आदमी ने पुलिसमैन को कमर से पकड़ लिया और दोनों पटाक से धरती पर आ गिरे। नीचे पड़े हुए पुलिसमैन की साँस फूलने लगी। दैववश उस पुलिसमैन के एक और साथी ने यह दृश्य देख लिया और उसने आकर दूसरे आदमी पर डंडे बरसाने शुरू किये।

इस बीच मैं अपना सिर पकड़े भूमि पर बैठा था और समझ रहा था कि मुझे गोली लगी है। पुलिसमैन की यह दशा देख कर मुझे बड़ा दुःख हो रहा था। डंडे की अच्छी वर्षा हो चुकने पर वह आदमी अपने होश में आया और "बस ! बस !!" कह कर चिल्लाने लगा। उसे छोड़कर पुलिसमैन ने मेरी ओर देखा और पूछने लगा "क्या तेरी भी कुछ पूजा की जाय ?" किन्तु मैंने स्पष्ट रीति से इनकार कर दिया।

जब उन्होंने मुझे पहचाना तो उन्हें अत्यन्त खेद हुआ और खूब हँसी हुई। हम चारो मिलकर अपनी कहानी सुनाने लगे। जिस आदमी ने मेरा पीछा किया था, वह नीग्रो था और उसके पास 6 गोली का रिवाल्वर था। उसने कहा—मुझे आज रात भर दो बदमाशों ने तग कर रखा था। वे मुझे लूटना चाहते थे। मैंने उनसे कह दिया था कि यदि तुम आने का साहस करोगे तो गोली चला दूँगा। शराब के नशे में चूर होने के कारण उस अँधेरी रात में उसने मुझे भूल से उन बदमाशों में से एक समझकर गोली चलायी थी। इस बात को सुन हम सबने हँसते-हँसते अपने मार्ग पकड़े।"

2

पहुँच तो गये, किन्तु—"इस बार तो हँसी-हँसी में ही टल गयी। एक और बार ऐसे ही अवसर पर मामला बहुत बिगड़ गया। उसका भी वृत्तान्त सुन लीजिये—अमेरिका के मजदूरों का एक संगठन है जिसे 'नाइट्स आफ लेबर' कहते हैं। वह समाज अमेरिका में बडा बल पकड़ रहा था। इसलिए कोठीवालों और मजदूरों का खूब झगड़ा चल रहा था। मजदूर लोग अपने मालिकों के घरों और कारखानों में आग लगा रहे थे और बदले मे मालिक लोग गुप्तचरों को रखकर उनके द्वारा गोलियों से मजदूरो को मरवा रहे थे

जिस नगर में मैं रहता था, वहाँ बड़ी अशान्ति थी; किन्तु, अभी दोनों मालिक और मजदूरों में खुल्लम-खुल्ला युद्ध आरम्भ नहीं हुआ था। उन्हीं दिनों मजदूरों की एक बड़ी भारी सभा होने वाली थी। सारी जनता की दृष्टि इसी सभा की ओर लगी हुई थी। उस दिन मजदूरों के प्रधान नेता को अपनी नीति की घोषणा करनी थी। सारे नगर की ही नहीं, सारे देश की अशान्ति और भलाई उसी नीति पर अवलम्बित थी। इसलिए समाज के संचालको ने उस सभा की कार्रवाई को गुप्त रखने की सूचना दी।

इस सूचना से संवाददाताओं की आँखें खुल गयी और वे सोचने लगे कि इस सभा की कार्यवाही का पता कैसे लगाया जाय। सभा-संचालकगण भी संवाददाताओं की ओर से असावधान न थे। बड़ी सावधानी से कार्यारम्भ किया। उस नगर में एक बड़े भारी होटल के बीच में एक विशाल नाटक-गृह था। वह होटल क्या था, एक लम्बा-चौड़ा महल था। चारों ओर से उक्त नाटक-गृह कमरों से घिरा था। यह प्रबन्ध इसलिए किया गया था कि होटल में टिके हुए सज्जन भोजन कर चुकने के पीछे बाहर निकले बिना ही नाटक देख सकें। इस सारे नाटक-गृह मे एक दरवाजा था। उजाले के लिए नाटक-गृह में खिड़कियाँ भी न थीं, सिर्फ सीसेदार छत से ही उजाला आता था। सारांश यह कि यह नाटक-गृह चारों ओर से बिल्कुल बन्द था। मजदूर लोग जैसी गुप्त सभा करना चाहते थे, उसके लिए इससे अधिक गुप्त स्थान मिलना मुश्किल था, क्योंकि दरवाजे के सामने द्वारपाल खड़े कर दिये जायँ तो चतुर से चतुर संवाददाता भी घुस नहीं सकता था।

जिस समय का मैं वृत्तान्त लिख रहा हूँ, उस समय न्यूयार्क में एक संवाददाता रहता था जिसने गुप्त सभाओं के समाचार ढूंढ़ निकालने में बड़ा नाम पाया था। हमारे सम्पादक ने उसे तार देकर बुला लिया। सभा से दो-तीन दिन पहले वह पहुँच गया और पहुँचकर उसने अपनी सहायता के लिए एक और आदमी माँगा। उसकी सहायता के लिए मैं चुना गया। खुशी-खुशी हम 'मौका देखने' घर से निकले और 'क्या करना चाहिए' यह सोचने लगे। वहाँ पहुँचकर हम लोगों ने देखा कि एक बार दरवाजे पर पहरेदार के खड़े हो जाने पर फिर भीतर घुसना असम्भव है। बड़े फाटक के अतिरिक्त उस भवन के भीतर जाने के लिए और कोई खिड़की अथवा मार्ग न था। अतएव यदि किसी तरह से उस भवन के भीतर पहुँच सकते थे तो सभा होने के पहले ही, पीछे उसके भीतर घुसने का कोई उपाय नही था।

सभा के पहले दिन हमें घर देखने का अवसर मिल गया और हमने निश्चय किया कि ऊपर सीढ़ियों में हम दोनों छिप सकते हैं। सीढ़ियाँ जहाँ खत्म होती थीं, वहाँ पर्दा पड़ा हुआ था और आशा न थी कि पर्दा उठाया जायेगा। सभा के दिन प्रातःकाल वह न्यूयार्क-निवासी कुछ रोटियाँ और शराब की बोतल लेकर पर्दे के पीछे जा छिपा मैं बाहर होटल के आसपास [illegible]

सभा-स्थल में घुस न आया हो। फिर क्या था, उस भवन के सब कमरों में खोज होने लगी। कहीं कुछ न मिला। फिर खोज करने वालों ने सीढ़ियों पर दृष्टि दौड़ाई, परन्तु कुछ फल न हुआ। वे पर्दे को बिना उठाये ही चलने लगे थे कि नीचे से किसी की नजर दो काले बूटों पर पड़ी। बूटों को देखते ही न्यूयार्क-निवासी को धक्के देकर निकाल दिया गया।

उस समय उसके मुख पर निराशा का राज्य छा रहा था। उसके मुख से झाग आ रहे थे। और कभी वह अपने-आपको और कभी अपने बूटों को कोसता था। 6 घंटे तक वह वहाँ एक ही स्थिति में खड़ा रहा और जब वह अपनी सफलता की आशा के मनमोदक बाँध रहा था, तभी उसे ठीक समय पर दस रुपये के बूट के कारण निराशा का मुँह देखना पड़ा। ऐसी असफलता के समय हम अपने सम्पादक को अपना मुँह नहीं दिखलाना चाहते थे। इसलिए वहाँ से दूर हटकर 'किंकर्तव्यविमूढ़ की तरह' सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए। एक ही घंटे में सभा का काम शुरू होने वाला था। हमने निश्चय किया कि इसकी रिपोर्ट लेकर छोड़ेंगे, चाहे उसके लिए हमें किसी की गर्दन ही क्यों न तोड़नी पड़े। क्रोध में आकर वह न्यूयार्क-निवासी गिलास पर गिलास शराब पी गया। किन्तु, मैंने अपने नियम के अनुसार गिलास को छुआ तक नहीं।

कालकोठरी में, इस तरह असफल होने पर हमने भयानक उपायों का अवलम्बन करने की ठानी। अपने साथी को छोड़कर मैं बाजार गया और छिद्र करने का एक यंत्र खरीद लाया। हम जानते थे कि होटल पत्थर की नींव पर खड़ा है और यह भी हमें मालूम था कि नाटक-भवन के नीचे और कमरे नहीं हैं। हमने सोचा कि यदि होटल का फर्श भूमि की सतह से कुछ ऊँचा हो तो हम सुरंग खोदकर नेपथ्य के नीचे पहुँच सकते हैं। वहाँ पहुँचकर नेपथ्य-द्वार ढूँढ़ निकालना या इतना बड़ा छिद्र खोद सकना, जिससे कुछ सुनायी दे सके, कोई कठिन काम न था। वहाँ से थोड़े-से भी सुने वाक्य हमारे लेख के लिए पर्याप्त थे, क्योंकि शेष भाग तो कल्पना द्वारा पूरा किया जा सकता था।

यह होटल ढालू भूमि पर बना हुआ था। सामने की ओर चौड़ा रास्ता था। पीछे की ओर कुर्सी से 10 फुट नीचे एक तंग गली थी। हम समझ नहीं सके कि होटल वाले जमीन ढालू होने का क्या लाभ उठाते थे। परन्तु, पिछली ओर की नींव टूटी हुई थी और उसमें बड़े-बड़े दरवाजे लगे हुए थे। सब दरवाजे बन्द थे और इनमें भीतर से ताले लगे हुए थे। एक दरवाजे के ऊपर शीशे का रोशनदान था। गली में अँधेरा था और उसके आसपास पुलिसमैन अथवा कोई विघ्नकारी पुरुष दिखलायी न पड़ता था।

अपने हाथ में ईंट लेकर मैं न्यूयार्क-वासी के कंधे पर चढ़ा। शीशा तोड़ डाला। ईंट की चोट से रोशनदान का शीशा बीच में से किनारे तक फूट गया और चढ़ते हुए बाल-सूर्य की भाँति दीखने लगा। अपने हाथों से मैंने अपने दस्ताने उतार दिये और शीशे के टुकड़ों को निकाल कर रोशनदान साफ कर दिया। दरवाजे के सिरे पर खड़े होकर मैंने अपने साथी को हाथ से ऊपर खींचा और क्षण भर भी बिना सोचे हम दोनों अँधेरी कोठरी में कूद पड़े। उस कोठरी में कंकड़ों, लकड़ी के टुकड़ों और टूटी-फूटी चीजों का ढेर था। हम दोनों उसी ढेर पर गिरे।
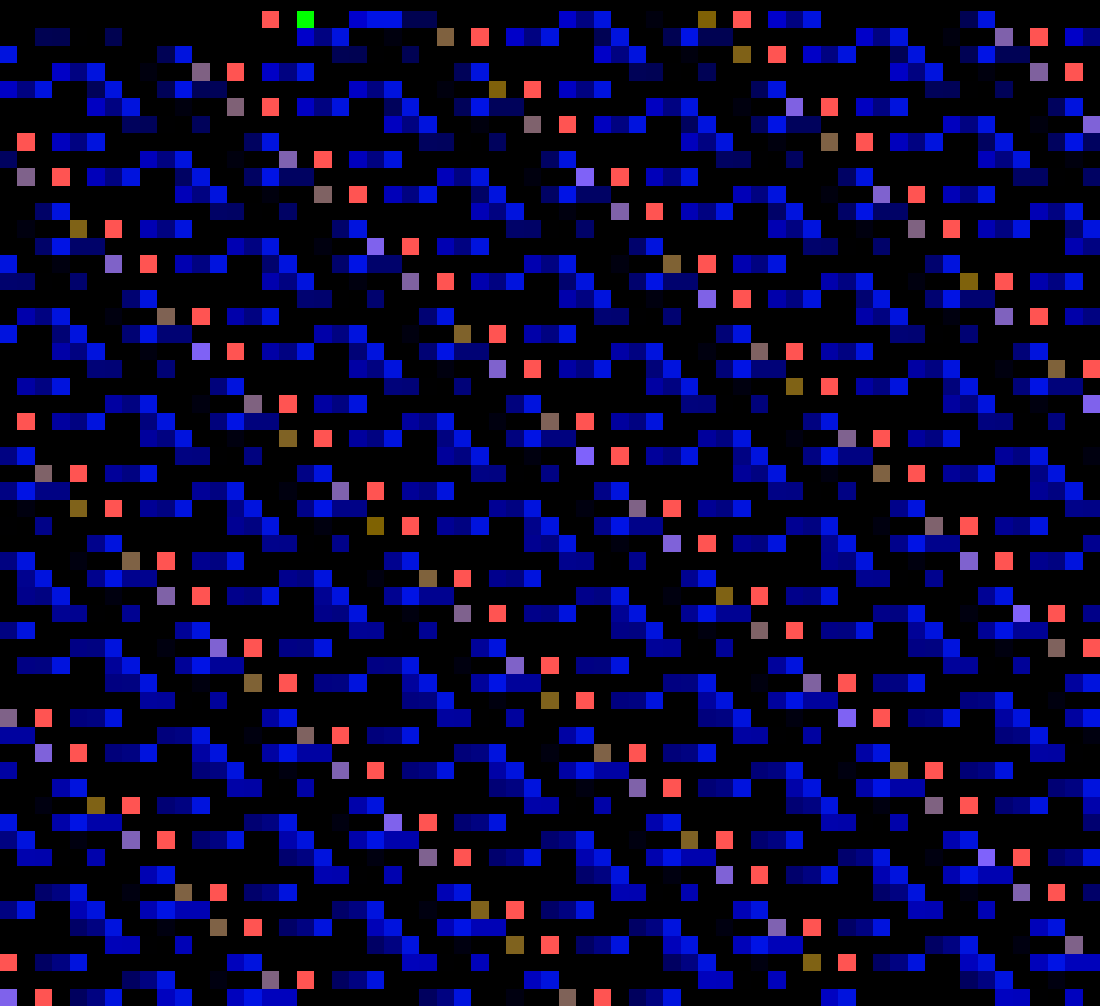
मैंने दियासलाई जलाकर चारों ओर देखा। वह छोटी-सी कोठरी नहीं थी, एक सटा हुआ दालान था और उसके ऊपर होटल के कई कमरे बने हुए थे। उस दालान में पहुँचकर हम लोग निश्चिन्त हो गये और समझने लगे कि अब हमें कोई देख नहीं सकता। हम सलाह करने लगे कि अब क्या करना चाहिए। मेरा साथी बड़े जोर से हँसता था और इसी कारण मुझे उसके मन की स्वस्थता में सन्देह होने लगा। तब भी हमने उस दालान में इधर-उधर घूमकर पता लगाने और कुछ सुनने का प्रयत्न किया। इसी आशा में हम आगे बढ़ते चले गये कि कुछ न कुछ पता अवश्य लगेगा। समय-समय पर मैं दियासलाई जलाकर देख लिया करता था। सदा बन्द रहने के कारण उस दालान में विचित्र तरह की दुर्गन्ध थी जिससे साँस लेना भी कठिन था। वहाँ चूहों की कमी न थी। वे इधर-उधर भाग रहे थे।

इधर उस न्यूयार्क-वासी का दिमाग इतना गर्म हो गया था कि वह चिल्लाने लगा। मैं बार-बार उसे रोकता था, पर वह मेरी एक न मानता था। कई बार छत पर चलने-फिरने की आवाज आती थी और हम नाटक-गृह की सभा के भ्रम से कार्यवाही सुनने के लिए कान लगाते थे। किन्तु पीछे पता लगा कि वह बीच की गली है और सभा-स्थल अभी दूर है। कुछ देर तक हम आगे चले गये, किन्तु मेरे साथी को आगे बढ़ने में बड़ी कठिनाई होने लगी। वह स्थान-स्थान पर ठोकर खाने लगा। शराब की गर्मी के साथ ही उस दालान की दुर्गन्धित वायु ने उसके सिर को ऐसा चकरा दिया कि वह अपने-आप में न रहा। उसको अपने भले-बुरे की भी कुछ सुध न रही। कभी हँसता, कभी गाली देता। हठ करके उसने स्वयं अपने हाथ में दियासलाई की डिबिया ले ली। वह जलती हुई दियासलाई को ही फेंक देता था। इसलिए मुझे डर था कि कहीं घर में आग न लग जाय। मैं देख रहा था कि यदि आग लग गयी तो और बच भी सकते थे, पर हमारे बचने की कोई आशा न थी।

अब मुझे सभा की कार्यवाही सुनने की अपेक्षा उस दरवाजे को ढूँढ़ने की अधिक चिन्ता हुई जिससे हम भीतर घुसे थे। अन्त में हम दालान की हद पर पहुँच गये। वहाँ पहुँचने पर हम आगे बढ़ने के लिए मार्ग ढूँढ़ने लगे ' आगे बढ़ने का मार्ग हमें न मिला। परन्तु, इसी खोज में मेरे साथी का पाँव गढ़े में पड़ गया जिससे वह गिर गया। उस गढ़े में चूना भिगोया हुआ था। मेरे साथी के बूट और पतलून चूने में लथपथ हो गये। अब तो उसके क्रोध की सीमा न रही। वह चिल्लाने लगा, गालियाँ बकने लगा। मुश्किल से वह बाहर निकला और दीवार से पीठ टेककर बैठ गया। उसने रात भर वहीं सोने और प्रातःकाल काम करने के लिए मजदूर लोगों के आने पर बाहर निकलने का विचार किया। उसने कहा कि यहाँ से निकलते ही मैं इस जंगली स्थान से भाग कर सभ्यता के केन्द्र न्यूयार्क चला जाऊँगा। यह विचार कर वह जहाँ बैठा था वहीं लेट गया ऐसी अवस्था में उसे छोड़कर मेरे लिए भी जाना हो

[illegible]था।

पूछा—"तुम क्या देख रहे हो ?" मैंने उत्तर दिया—"मुझे मामूली-सा उजाला दिखाई पड़ रहा है।"

पुलिस पहुँच गयी—"हम कुछ देर तक साँस रोककर खड़े रहे। थोड़ी देर में दूसरी ओर दीवार पर लालटेन की रोशनी चमकी।" "अरे यह तो पहरेवाला है ! उसने हमारा शोर सुन लिया"। अब तो हमारे रहे-सहे छक्के छूट गये। मुझे क्रोध आ गया। मैंने अपने साथी से कहा कि "यह सब तुम्हारी कृपा है। तुमने ही गुल-गपाड़ा मचाकर उसको बुलाया है।" फिर मैंने अपने साथी को अपने पास बुला लिया और कहा—"सीधे खड़े रहो। जब मैं तुमसे कहूँ, तुम अपने हाथ ऊपर उठा लेना और जब तक मैं न रोकूँ तब तक उठाये रखना।" थोड़ी देर मे फिर उजाला दिखलायी दिया। मैंने बड़ी भारी भूल की कि उसी समय पुलिस वालों को आवाज क्यों न दे दी, किन्तु यह बात मुझे उस समय न सूझी थी।

धीरे-धीरे उजाला फिर आगे दिखलायी पड़ने लगा और सारे दालान में हो गया। उस उजाले में मैंने देखा कि दो आदमी बड़ी सावधानी से मेरी ओर आ रहे हैं। उनमें से एक के हाथ में लालटेन थी और दूसरे के हाथ में रिवाल्वर था। मैंने अपने साथी से हाथ ऊपर उठने को कहा, उसने उसी के अनुसार किया। मेरा हृदय धड़कने लगा। परन्तु, हम ही सिर्फ न डरे थे, पुलिसमैन भी हमको देख कर डर गये। लालटेन वाला एक स्तम्भ के पीछे छिप गया और और दूसरे ने हमको लक्ष्य करके गोली चलायी। गोली चलाकर वह भी छिप गया।

हथकड़ी पड़ गयी। गोली चलने से सारा नाटक-गृह गूँज उठा। गूँज के शान्त होते ही मैं चिल्लाया। मैंने कहा—"भाइयो ! कृपया परमेश्वर के नाम पर गोली मत चलाओ। हम चोर नहीं। हम संवाददाता हैं। देखो, हमारे हाथ ऊपर उठे हैं।" यह कहकर थोड़ी देर तक हम उसी अँधेरे में खड़े रहे। इतने में दोनों पुलिसमैन इकट्ठे हो गये। फिर लालटेन का प्रकाश चमका और रिवाल्वर का मुँह हमारी ओर हुआ। मैं डर गया कि अबकी बार गोली चलने से वार खाली नहीं जायेगा। परन्तु, मेरा डर व्यर्थ निकला, क्योंकि हमारे शब्द उन्होंने सुन लिये थे। उजाले में अच्छी तरह देखभाल कर एक पुलिसवाला बोला, "हाथ ऊपर उठाये खड़े रहो, नहीं तो भला न होगा" और मुझसे आगे आने के लिए कहा। मैं हाथ ऊपर उठाये आगे बढ़ा और न्यूयार्क-निवासी मूर्ति की भाँति वहीं खड़ा रहा। आगे जो कुछ बीता, वह थोड़े शब्दो मे ही सुन लीजिये कि पुलिस के आदमी हम दोनों को हथकड़ी लगाकर थाने ले गये और वहाँ बहुत वाद-विवाद के बाद हमें छोड़ा गया।"

[यद्यपि शर्माजी के अनुभव की इस दूसरी कथा से समाचार-प्राप्ति में सफलता का पता नहीं मिलता, तथापि उसमें यह तो देखा ही जा सकता है कि विदेशों में संवाद प्राप्त करने के लिए कभी-कभी कितनी ही मुसीबतों का सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ता है और यह आम बात है। लुकना-छिपना, चोरों की तरह सेंध लगाने तक का काम करना, गाली और मार खाना, घंटों खड़े रहना, समय लगाना या गँवाना, भूख-प्यास तथा मल-मूत्र-त्याग तक भूल जाना और अन्त में मरने-मारने को तैयार रहना—ये सारे काम (कर्तव्य) संवाददाता के होते हैं]

[यहाँ यह भी ध्यान दिलाना है कि ऊपर के उद्धरण शर्माजी की ही अपनी हिन्दी में दिये गये हैं जो उनके समय की हिन्दी है—आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व की हिन्दी ।]

स्टीड की कथा

एक कथा विश्वविख्यात पत्रकार डब्लू० टी० स्टीड के उत्साह, उमंग और साहस की है जिसका उल्लेख इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी द्वितीय पुस्तक 'पत्रकारिता : संकट और सत्रास' में भी किया है । कथा यह है :

स्टीड को प्रिन्स आफ वेल्स के भारत—आगमन का ओर उसके पीछे लगे उद्देश्य का समाचार प्राप्त करना था । ब्रिटिश सरकार ने उस समय सब कुछ गोपनीय रखना चाहा था । सम्राट् एडवर्ड ने यहाँ तक आदेश दे रखा था कि जिस युद्धपोत से प्रिन्स स्वदेश लौट रहे है, उसके पास कोई न पहुँच सके । युद्धपोत का नाम 'इन्डामिटेबल' था; किन्तु इसका भी सबको पता नहीं था । जहाज के चारों ओर घेरा डाल देने का आदेश दे दिया गया था जो मुख्यतः पत्रकारों को ही रोकने के विचार से दिया गया था ।

स्टीड ने निश्चय कर लिया कि वह प्रतिबन्ध के बावजूद उस जहाज में पहुँचेंगे । यह कोई साधारण काम नहीं था—असाधारण = भी असाधारण और जोखिमों से भरा था । जोखिमों के साथ इसमें बड़ी बुद्धिमत्ता तथा तत्परता का भी परिचय देना था । किन्तु, जोखिमो मे ही पला स्टीड, जोखिमों के ही बीच 60 वर्ष से अधिक की उम्र तक पत्रकारिता करने वाले स्टीड और बुद्धिमान तथा कार्यतत्पर स्टीड के लिए यह कार्य न कोई जोखिम था, न समस्या और न बहुत ज्यादा बुद्धि की आवश्यकता वाला ।

स्टीड ने क्या किया ? घेरे के बाहर समुद्र की उत्ताल तरंगों पर अपनी एक छोटी-सी नाव छोड़ दी जो लहरों के थपेड़े खाती-बर्दास्त करती हुई अन्त में 'इन्डामिटेबल' से भिड़ ही तो गयी [इन्डामिटेबल का अर्थ होता है—'अदम्य', 'दुर्दमनीय'] । जहाज से 30 फुट लम्बी मोटे रस्से की एक सीढ़ी लटक रही थी । स्टीड को अपनी नाव किसी तरह इस सीढ़ी के पास ले जानी थी और वह ले गए । नाव छोड़ दी और उसी सीढ़ी से जहाज पर चढ़ गये । आधी सफलता तो प्राप्त हो गयी—घेरे वालों से बचकर, उनकी आँखों में धूल झोंककर वह पहुँचे थे ।

जहाज पर पहुँचकर स्टीड पूर्णतः आश्वस्त हो गये कि अब कोई यह नहीं पूछेगा कि तुम कौन हो, कैसे आये हो । कोई भी यही समझता कि यदि यह जहाज पर है तो अनुमति लेकर ही अन्य व्यक्तियों की तरह आया होगा । पहुँचते ही स्टीड ने जहाज के एक अफसर से एक कुशल संवाददाता की तरह बातचीत शुरू कर दी । बात ही बात में उसी से प्रिन्स-ऑफ-वेल्स की भारत-यात्रा के सम्बन्ध में बहुत-से तथ्य मालूम हो गये जिन्हें उन्होंने स्मृति-पट पर लिख लिया और जिस प्रकार आँखों में धूल झोंककर आये थे, उसी प्रकार निकल गये । दूसरे दिन जब उनके पत्र डेलीमेल में स्टीड द्वारा प्राप्त प्रकाशित हुआ तो लोग चकित रह गये ।

कथाएँ हैं। एक कथा टर्की के सुलतान अब्दुल हामिद के सम्बन्ध में समाचार प्राप्त करने की है। उससे किसी का भी मिलना असम्भव-सा था। किसी संवाददाता से तो वह मिलता ही नही था और न उन्हें अपने महल में आने देता था। किन्तु, 'डेलीमेल' के संवाददाता उससे मिलकर ही रहे। यह ऐसे समय मिले जब सुलतान को गद्दी से उतारे जाने का षड्यन्त्र रचा जा रहा था और सुलतान ने मिलने-जुलने वालों के सम्बन्ध में और कड़ाई कर दी थी। इसी मुलाकात के परिणामस्वरूप उसके गद्दी से उतारे जाने की पूरी 'समाचार-कथा' डोनो होल को मिल गयी, जबकि अन्य पत्र मुँह ताकते रहे।

इसी प्रकार लन्दन का 'डेलीमेल' यदि उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने के डॉ० कुक के दावे की पोल खोल सका तो उसका भी श्रेय उसके सुप्रेरित, सोत्साहित तथा सुशिक्षित संवाददाता को ही है। कुक ने जो व्यवस्था कर रखी थी, उसको व्यर्थ करके उसके पीछे लग जाना सम्भव नहीं था। किन्तु, डेलीमेल के संवाददाता ने उसकी सारी होशियारी और व्यवस्था उलट दी।

ऐसी ही एक समाचार-कथा पेरिस के एक 'न्यूड क्लब' की है। वैसे तो फ्रांस, ब्रिटेन जैसे पश्चिमी देशों के पत्र हर संस्था में अपने आदमी रखते है, किन्तु पेरिस के उस क्लब का सदस्य कोई संवाददाता नहीं बन सकता था और क्लब के संचालक ने ऐसी व्यवस्था कर रखी थी कि पत्र से सम्बद्ध कोई व्यक्ति गुप्त रूप में भी उसका सदस्य न बन सके। इस व्यवस्था के बावजूद एक संवाददाता को किसी संभ्रान्त परिवार की एक महिला के उसके सदस्य होने और उसे लेकर एक संभ्रान्त पुरुष को क्लब द्वारा फँसा लिये जाने का सुराग मिल गया और वह क्लब का सदस्य न होते हुए भी पूरी कथा प्राप्त कर लेने में सफल हो गया।

वहाँ संवाददाताओं द्वारा इस प्रकार संकट का सामना करने तथा साहस का परिचय देने की ये कथाएँ अतीत की ही बात नहीं हैं। किसी पत्र का कोई संवाददाता यदा-कदा ही ऐसे संकटों का सामना नहीं करता, वरन् हमेशा तैयार रहता है और पूरी व्यवस्था के साथ पत्र-संचालकों द्वारा भी तैयार रखा जाता है। यद्यपि अब सरकारी संस्थाओं तथा गैर-सरकारी संस्थाओं की गोपनीय बातें जान लेने के विरुद्ध कानूनी अड़चनें बहुत बढ़ गयी हैं और मुकदमे चलने का डर बराबर लगा रहता है, तथापि संकटों का सामना करने तथा साहस का परिचय देने की संवाददाताओं द्वारा स्वयं एक आदत बना लिये जाने और इस आदत में पत्र-संचालकों का पूरा सहयोग तथा प्रोत्साहन मिलने से संवाददाता अक्सर ही (यदा-कदा नहीं) रहस्योद्-घाटन करते रहते हैं। उन देशों में संवाददाताओं और पत्र-संचालकों ने एक संयुक्त शक्ति भी तो ऐसी बना ली है कि वे कानूनी अड़चनों तथा भय पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए तो वहाँ संवाददाताओं के समक्ष यह समस्या नही है कि आखिर साहस और कष्टसहिष्णुता का परिचय दें तो कैसे दें, संकटों का सामना करने के लिए तैयार रहें तो कैसे रहें ? अन्य देशों मे भी कुछ संवाददाताओं द्वारा जब-तब कुछ रहस्योद्घाटन होते रहते हैं और कुछ सनसनीखेज कहानियाँ प्रकाशित की जाती हैं, किन्तु इन्हें प्राप्त करने के लिए जहाँ वे पहुँच जाते हैं, वहाँ पहुँचने मे ऐसे किसी सकट का सामना नहीं करना पडता कि कोई बडा शारीरिक कष्ट हो और बड़ी आर्थिक क्षति हो

जैसाकि कहा जा चुका है और स्पष्ट हो गया है, अब कहीं भी पत्रकारिता में किन्हीं ऊँचे आदर्शों तथा सिद्धान्तों के लिए तो संकटों का सामना करने की बात नहीं रही। किन्तु, कम-से-कम व्यावहारिक पत्रकारिता के लिए ही संकट का सामना करने तथा साहस का परिचय देने की इन कथाओं से संवाददाताओं के एक मानदण्ड की बात तो सामने आ ही जाती है और आरामतलबी के साथ, सुविधापूर्वक और कुछ घिसे-पिटे तरीकों से समाचार प्राप्त करके छुट्टी पा लेने या वाहवाही लूट लेने, सस्ते में विज्ञापित हो जाने, आसानी से संवाददाता बन जाने, संवाददाता-पद के लिए अस्वस्थ होड़ लगाने और संवाददाता बनकर ईर्ष्या का शिकार होने आदि की स्थिति को समाप्त करने की एक आवश्यकता तो महसूस की ही जा सकती है। इनसे ही इस तथ्य पर भी ध्यान देने की आवश्यकता का अनुभव हो जा सकता है कि जिन समाचारों के लिए ऐसे-ऐसे संकटों का सामना किया जाय और साहस का परिचय दिया जाय, वे यथातथ्य हों, सनसनी पैदा करके या अल्पकालिक प्रभाव डालकर ही न रह जायँ और अन्त में गप्प ही सिद्ध न हों।

योग्यताएँ : कितनी भिन्नता ?

कुछ ग्रन्थों तथा लेखों में संवाददाताओं की योग्यताएँ कुछ इस तरह बतायी गयी है मानो वे सबके लिए एक-सी हैं—सामान्य हैं। किन्तु, एक-सी योग्यताएँ सबके लिए नही हो सकतीं और इसी प्रकार योग्यता का मानदण्ड भी एक नहीं हो सकता। योग्यता का एक निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर और दूसरा हर देश के पैमाने पर होगा। फिर, अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर भी संवाददाताओं को पूर्ण-विकसित, अर्ध-विकसित, विकासोन्मुख तथा अविकसित देशों के अनुसार बाँटना होगा—उनका वर्गीकरण करना होगा। इसी प्रकार हर देश के पैमाने पर उनकी श्रेणियाँ आठ-दस तक हो सकती हैं—देहातों और कस्बों में स्थित, अपने प्रान्त के खास-खास नगरों में स्थित, अपने ही नगर के पूर्णकालिक, प्रान्त की राजधानी में स्थित, केन्द्रीय राजधानी में स्थित, कुछ दूसरे प्रान्तों के खास-खास नगरों में स्थित, विशेष अवसरो पर या विशेष साक्षात्कार के लिए भेजे गये, खेलकूद, वाणिज्य तथा न्यायालय के समाचारो के लिए नियुक्त······।

योग्यता तथा व्यवस्था

विकसित देशों में योग्यता और साधन-सम्पन्नता अभिन्न रूप में जुड़ी हैं। उनमें इतनी योग्यताएँ गिनायी गयी हैं—अखबार जिस भाषा में निकलता है उस पर अधिकार; जिस क्षेत्र में पत्रकारिता करनी है उसकी भाषा, उसके भूगोल तथा इतिहास और सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन का ज्ञान; अधिक-से-अधिक प्रमुख व्यक्तियों से परिचय तथा उन तक पहुँच। कुछ और तथ्य योग्यता में आते हैं—आशुलिपि, टाइपिंग तथा फोटोग्राफी में विशेष कुशलता; साइकिल तथा मोटर-साइकिल ही नहीं, जीप तथा कार भी चलाना; नदी तथा समुद्र की तैराकी; घुड़सवारी, वाकीटाकी यंत्र का संचालन; पिस्तोल, रिवाल्वर तथा बन्दूक चलाना; वायरलेस की जानकारी; सम्पर्क-कला तथा संकट और साहस।

अपने यहाँ जैसे अक्सर देखा जाता है, वैसे ही इन देशों में यह बात तो नहीं है कि योग्यताएँ तो इतनी सारी बिना दी जायँ; किन्तु व्यवस्था ऐसी कुछ न हो कि कोई भी आकांक्षी निर्धारित योग्यता के बिना संवाददाता बन ही न सके, योग्यता के विकास का अवसर पा सके और योग्यता के अनुसार अपेक्षित सुविधा का अधिकारी हो। वहाँ 'किसी तरह काम चला लेने' की सलाह नहीं दी जाती और हर स्तर पर पूर्ण कालिक संवाददाताओं से लेकर ग्राम्य क्षेत्र के अंशकालिक संवाददाता तक को—अपेक्षित योग्यता तथा आवश्यकता के अनुसार रखा जाता है और जरूरत पड़ने पर मुक्तहस्त खर्च करने के लिए धन भी उप-[illegible] रखना है या [illegible] जाता है।

कुछ संवाददाताओं के लिए तो उपर्युक्त योग्यताओं में से प्राय सभी अनिवार्य हैं; कुछ को कुछ की छूट है। भाषा, टाइपिंग, आशुलिपि, फोटोग्राफी, साइकिल आदि चलाने की जानकारी में छूट मिलना मुश्किल है या मिलती ही नहीं। जिन खास विषयों की अलग से ही रिपोर्टिङ्ग हो सकती है और जिन स्थानों पर सभी को नहीं भेजा जा सकता, उनके लिए सबका का समान रूप से अनिवार्यता में बँधना आवश्यक नहीं है। जिला-स्तर के एक-एक संवाददाता से विशिष्ट राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों से साक्षात्कार की आशा नही की जाती। हाँ यह बात दूसरी है कि जिला-स्तर पर काम करने वाला कोई संवाददाता सचमुच कुछ विशिष्टता रखता हो और विशेष उत्साही हो तो अपवादस्वरूप उसे ही साक्षात्कार की छूट दे दी जाय। किसी छोटे नगर के ऐतिहासिक या सांस्कृतिक महत्व की दृष्टि से कोई अन्तर्राष्ट्रीय नेता और किसी विशेष राजनीतिक प्रयोजन' से कोई विशिष्ट राष्ट्रीय नेता या राजनेता वहाँ जाता है, तो उनके लिए प्राय: 'विशेष संवाददाता' ही भेजे जाते हैं।

संवाददाता के लिए टाइपिंग तथा आशुलिपि के ज्ञान की कितनी आवश्यकता है, यह तो पिछड़े देशों के भी कुछ बड़े पत्रों और उनके संवाददाताओं को महसूस होता होगा। विकसित देशों में टाइपिंग के साथ आशुलिपि और आशुलिपी के साथ टाइपिंग अनिवार्य है। चूंकि उन देशों में दोनों का संयुक्त ज्ञान रखने वालों की माँग दूसरे कारबारों में भी बहुत है और पैसा भी अधिक मिलता है, अत: अखबार भी उन्हें भरपूर पैसा देते हैं।

आशुलिपि के ज्ञान के बिना किसी के भाषण या वार्तालाप के एक-एक शब्द पर ध्यान देते हुए ठीक-ठीक लिखते जाना एक बहुत कठिन कार्य है और भयंकर भूल-चूक का डर बराबर बना रहता है। इसलिए अब विकसित देशों में पहले की तरह आशुलिपि के बिना रिपोर्टिङ्ग नहीं की जाती। आशुलिपि का ज्ञाता टाइपिंग जानता ही है। वैसे यह सोचा जा सकता है कि यदि वह टाइपिंग न जानता हो तो भी काम चला सकता हैं; किन्तु जहाँ समय का मूल्य है, यथातथ्यता का ख्याल रखा जाता है और कंजूसी की ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं है, वहाँ यह क्यों सोचा जायेगा कि संवाददाता आशुलिपि का फैलाव हाथ से लिखकर ही कर ले, टाइप राइटर का उपयोग न करे। उसे कार्यालय में ही नहीं, अपने निवास-स्थान पर भी प्रेस की ओर से टाइपराइटर उपलब्ध रहता है। संवाददाता स्वयं टाइप करता है, क्योंकि आशुलिपि का फैलाव बोलकर दूसरे से टाइप कराने में उसे टाइप किया हुआ फैलाव एक बार देखना ही पड़ेगा और इससे समय नष्ट होगा और फिर एक अतिरिक्त व्यक्ति की व्यवस्था से खर्च भी बढ़ेगा।

जबकि बहुत से देशों में 'वाकीटाकी' यंत्र का नाम भी बहुत कम संवाददाता जानते हैं, कई उन्नत देशों में इसका प्रचलन इस शताब्दी के चौथे दशक से ही हो रहा है। उस समय यह बहुत खर्चीला था, किन्तु आज उतना खर्चीला नहीं है और जिस कार्य के लिए संवाददाता इसका उपयोग करते थे, उसके लिए अब इससे अधिक परिस्कृत यन्त्र भी निकल आये हैं। इर्द-गिर्द के दस मील तक के आसानी से प्राप्त कर लिये जाते थे इससे बोलना और सुनना दोनों होता था। तार और टेलीफोन लाइनें मिलाने में देर लगने की जो

समस्या थी, उसे इसने हल कर दिया। यह बैटरी से चलता है। उस समय एक बार लगी बैटरी अड़तालीस घंटे चल जाती थी। अब तो और अधिक देर तक चलने वाली बैटरी बन गयी है। यह कैमरा की तरह अपने साथ रखी जाती है।

'वाकीटाकी' में वायर-रेकार्डर होता है जिस पर सम्भाषण अंकित हो जाते हैं। यह कोई भी शब्द बिजली से तार पर रेकार्ड कर लेता है और फिर उलटा घुमा कर ग्रामोफोन की तरह रेकार्ड की हुई बातें सुन सकते हैं। एक बार में लगातार 66 मिनट तक का भाषण रेकार्ड कर लिया जाता था और एक लाख बार सुना जा सकता था या काम हो जाने पर विचुम्बकित कर दूसरा रेकार्ड बना लिया जा सकता था। अब तो इस यन्त्र में निश्चय ही और सुधार हो गया होगा। हमारे देश में तार और टेलीफोन मिलाने में देर लगने की जो समस्या संवाददाताओं को होती रहती है, उसे देखते हुए हम समझ सकते हैं कि यह संवाददाताओं के लिए कितना महत्वपूर्ण है।

वहाँ फोटो लेने के लिए कैमरा हर स्तर के संवाददाता को उपलब्ध रहता है। वहाँ के पत्र बाहरी फोटोग्राफर का उपयोग कम करते हैं, क्योंकि वे (बाहरी फोटोग्राफर) पत्रकारिता की दृष्टि से और अपने विशेष दृष्टिकोण से फोटो लेने में प्रशिक्षित नहीं किये जा सकते। संवाददाता को फोटो लेने में यह ध्यान रखना पड़ता है कि उनका ब्लाक अच्छा बने; जिस कोण से चित्र लेना हो, उसी कोण से लिया जाय; जिस क्षण व्यक्ति की भावभंगिमा सर्वोत्तम लगे उसी क्षण फोटो लिया जाय और जिस व्यक्ति को महत्व देना है, वह फोटो में गौण न हो जाय। बाहरी व्यवसायी-फोटोग्राफर, जिसका पत्रकारिता से कोई सम्बन्ध नहीं होता, इतनी बातें ध्यान में कैसे रख सकता है।

पत्र की ओर से संवाददाता की निजी सवारी की व्यवस्था के अलावा किराये की सवारी के लिए भी धन उपलब्ध रहता है। हमारे यहाँ कुछ इने-गिने सम्पादकों को यदि कार मिली हुई है तो यह बड़ी बात समझी जाती है; उन उन्नत देशों में एक दो-पत्र के नही अधिकांश पत्रों के कई-कई संवाददाता कार पर आते-जाते हैं। इसी प्रकार जब-तब समाचार-कार्य के निमित्त लम्बी यात्राएँ भी संवाददाता करते रहते हैं। जबकि अर्धविकसित तथा विकासशील देशों में खास-खास इने-गिने संवाददाताओं को भी पत्र की ओर से अपने निवास-स्थान पर टेलीफोन लगवाने में बहुत जूझना पड़ता है। इन देशो के संवाददाताओं को अपने आप फोन मिल जाते हैं। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि संवाददाताओं, कम-से-कम खास-खास संवाददाताओं, के लिए फोन कितने जरूरी होते हैं।

ब्रिटेन : एक उदाहरण

ब्रिटेन में और उसी के अनुकरणस्वरूप अन्य विकसित देशों में एक प्रधान कार्यालय-संवाददाता (नगर-संवाददाता या स्थानीय संवाददाता) होता है और संवाददाताओं को उसके अधीन कुछ दिनों तक जमकर काम करके अपनी योग्यता तथा क्षमता सिद्ध करनी पड़ती है। वहाँ यों ही किसी के महत्वाकांक्षी बनकर संवाददाता पद प्राप्त कर लेने की कोई

गुंजाइश ही नहीं है। वहाँ हर संवाददाता के सामने बस यही आदर्श होता है—"पहले योग्य बनो, तब महत्वाकांक्षी'। वहाँ कुल परिस्थिति ही ऐसी बन गयी है कि बिना किसी अ[illegible] अनुभव तथा निर्धारित योग्यता के पत्र-संचालक या सम्पादक के कृपापात्र बन जाने से कोई छोटा स्थानीय संवाददाता भी नहीं बन सकता और किसी तरह की अस्वस्थ प्रतिद्वन्[illegible] नहीं चल पाती।

अन्य नगरों के स्थानीय संवाददाता की तरह लन्दन-स्थित प्रधान संवाददाता का भी पद बहुत महत्वपूर्ण तथा जिम्मेदारी का होता है। लन्दन-स्थित प्रधान संवाददाता को 'लन्दन-सम्पादक' कहा जाता है। चूँकि किसी समय लन्दन न केवल ब्रिटेन, वरन् सारे विश्व की राजनीतिक गतिविधि का केन्द्र था, अतः लन्दन-स्थित संवाददाता को महत्व मिलना ही था। आज भी, जबकि लन्दन का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व पहले जैसा नहीं रहा, लन्दनस्थित प्रधान संवाददाता का महत्व कम नहीं हुआ है। पत्रकारिता की दृष्टि से तो लन्दन का महत्व था ही और आज की पत्रकारिता में 'आदर्श और यथार्थ' के सामंजस्य का ही महत्व अधिक मान लिये जाने की स्थिति में वह बना हुआ है, क्योंकि अन्य देशों की अपेक्षा ब्रिटेन में अधिक सामंजस्य किया गया है।

ब्रिटेन में दशकों पहले कुछ पत्रों में स्थानीय संवाददाताओं की संख्या पन्द्रह-बीस तक थी और आज और अधिक पत्रों में इतनी संख्या हो गयी है। इन सब संवाददाताओं का पहला पाठ यह होता था कि वे यह जानें कि सभी तरह के पाठकों की गतिविधि, रुचि, स्वभाव, आशा, आकांक्षा आदि को अभिव्यक्ति देते हुए समाचार कैसे दिया जाय। फिर वे अन्य सम्पादकों के सम्पर्क से पत्र-सम्पादन के और सभी अंगों—संवादबोध, समाचार-मूल्यांकन, समाचार-चयन, पृष्ठ-सज्जा आदि—का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करते हैं। उनको यह जानना भी जरूरी होता है कि रिपोर्ट अधिक से अधिक कितने शब्दों में और कितनी पंक्तियों मे हो।

ब्रिटेन में पार्लियामेंट की रिपोर्टिंग को और रिपोर्टिंग करने वालों को विशेष महत्व दिया जाता रहा और आज भी दिया जाता है। समाचार-समितियों के संवाददाता तो पिरोटिंग करते ही हैं, हर राष्ट्रीय पत्र अपने विशेष संवाददाता अलग से लगाते हैं। ये उन बारीकियों को पकड़ने में विशेष सावधान रहते हैं जिन्हें पकड़ने में समाचार-समितियों के संवाददाता कुछ कारणों से वैसी दिलचस्पी नहीं दिखा पाते। ये विशेष संवाददाता 'हैनसार्ड' पर तो बिलकुल निर्भर नहीं करते। [ब्रिटिश पार्लियामेंट की विस्तृत रिपोर्टिंग का सरकारी रूप में प्रकाशन हैनसार्ड' कहलाता है यह सरकारी रिपोर्ट का गैर-सरकारी नाम है अठारहवीं सदी में पहले-पहल लूक हैनसार्ड नामक व्यक्ति द्वारा इसे छापने के कारण उसी के नाम पर यह नाम

विश्राम करने की छुट्टी देता था—आपस में तीनों ऐसी व्यवस्था कर लेते थे कि सबको विश्राम मिल जाता था और किसी एक ही पर कार्यभार नहीं पड़ता था। तीनों की योग्यताएँ करीब-करीब समान होती थीं। एक चपरासी रिपोर्टर के पास खड़ा रहता था, दूसरा तुरन्त कार्यालय में कापी पहुँचाता था और लौट आता था। [अब उन्नत साधनों के हो जाने से इस प्रकार किसी चपरासी को दौड़ने की जरूरत नहीं रही।]

विकसित देशों में न तो कुछ दशकों पहले ऐसा था और न आज ऐसा है कि किसी संवाददाता या दूसरे पत्रकार के बारे में 'कामचलाऊ' वाली बात कही जा सके। इस संक्षिप्त वर्णन से ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनमें योग्यता तथा कर्तव्य का स्तर शेष संसार से ऊँचा है। उनके सभी संवाददाता समान योग्यता वाले भले न हों, यानी उनमें योग्यता की कुछ श्रेणियाँ भले ही दिखती हों, वे अयोग्य किसी तरह नहीं कहे जा सकते।

शेष देशों—अविकसित, अर्ध-विकसित या विकासशील देशों के संवाददाताओं को अपने में हीनता की वैसी कोई भावना लाये बिना, निस्संकोच यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि विकसित देशों के संवाददाताओं की ऊँचाई तक पहुँचने के लिए अभी तक कोई परिस्थिति नहीं बन सकी है।

भाषा का प्रश्न—यदि हमारे यहाँ और अन्य अविकसित, अर्ध-विकसित तथा विकासोन्मुख देशों के अधिकांश पत्रों की आर्थिक स्थिति ही ऐसी हो कि 'वे हर संवाददाता के लिए टाइपिंग तथा आशुलिपि के ज्ञान के अनुसार वेतन या पारिश्रमिक न दे सकते हों; टाइपराइटर, कैमरा तथा टेलीफोन की व्यवस्था करने में सर्वथा असमर्थ हों' और 'वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति में पिछड़े होने के कारण आधुनिकतम साधन उपलब्ध न करा सकते हों' तो कम-से-कम भाषा के मामले में तो वे सावधान रह ही सकते हैं। इसके लिए भी अर्थ का रोना रोने या वैज्ञानिक प्रगति में पिछड़े होने की बात करने से काम नहीं चलेगा और इससे किसी प्रबुद्ध पाठक को न सहानुभूति होगी, न सन्तोष। जिस भाषा का पत्र हो, उसका यदि कोई स्तर बन चुका है तो उस स्तर के अनुरूप तो सही भाषा होनी ही चाहिए, ताकि यह न कहा जा सके कि 'अब जिसे बनी-बनायी भाषा बिगाड़नी हो, वह अखबार पढ़े'। यदि किसी विद्वान् पत्रकार-लेखक ने किसी प्रसंग में अपने कुछ यथार्थ विश्लेषण के साथ यह कह दिया हो कि 'अखबार की भाषा कामचलाऊ होनी चाहिए' तो प्रसंग तथा विश्लेषण को भुलाकर इसी कथन को पकड़ लेना अपने विकास में स्वयं रोड़ा लगाना होगा, आत्मघात होगा और अपनी अयोग्यता को छिपाने का एक तरीका होगा।

यहाँ सम्पादक-मण्डल के सदस्यों के भाषा-ज्ञान की बात उठाने के पहले संवाददाताओं के भाषा-ज्ञान की बात उठानी है। चूँकि हमारे अधिकांश देशी भाषाओं के पत्र क्षेत्र-सीमित हैं और अखिल-प्रान्तीय या अखिल-देशीय पत्रों की संख्या बहुत कम है, अतः उनके अधिकांश संवाददाता क्षेत्रीय जिला-सीमित या ग्राम-सीमित हैं। जबकि बारह पृष्ठों तक के अंग्रेजी

के लिए छोड़े जाते हैं, देशी भाषा के चार पृष्ठों के ही पत्र में पाँच-छह कालम तक जिलों के समाचार दिये जाते हैं, देने पड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि इनमें ग्रामीण क्षेत्रों के संवाददाता अंग्रेजी पत्रों के संवाददाताओं के अनुपात में अधिक होंगे। इन संवाददाताओं से यह अपेक्षा नही ही की जाती कि ये सबके-सब भाषा पर अधिकार रखने वाले होंगे।

अब गाँवों में भी कुछ पढ़े-लिखे संवाददाता नियुक्त किये जाने लगे हैं। गाँवों में कुछ अध्यापकों को संवाददाता बनाया जा सकता है और कुछ बन रहे हैं; किन्तु अनेक कारणों से अभी ज्यादा अध्यापक न तो आकृष्ट हो सके हैं और न किये जा सके हैं। एक कारण तो यह है कि संवाद-संग्रह में कम-से-कम जितने समय की आवश्यकता होती है, उतना भी ये अध्यापक नही दे पाते। एक निश्चित संख्या में ग्राहक बनाने तथा अपने क्षेत्र में जहाँ कहीं से सम्भव हो, कुछ विज्ञापन प्राप्त कर लेने की भी जो शर्तें संवाददाता के लिए प्रायः रख दी जाती है, वह भी अध्यापन के पेशे वाले के लिए बहुत कड़ी है।

निम्नलिखित कुछ और तथ्य भी ऐसे ही हैं कि जिनसे पढ़े-लिखे, स्वतंत्र तथा स्वाभिमानी व्यक्ति संवाददाता के कार्य से दूर ही रह जाते हैं—(1) संवाददाता-पद पर कुछ 'खास' (अपने) व्यक्तियों की नियुक्ति में स्थानीय प्रमुख राजनीतिक व्यक्ति या व्यक्तियों की या स्वय पत्र-संचालक, प्रसार-व्यवस्थापक और सम्पादक की सस्वार्थ दिलचस्पी, (2) प्रसार बहुत कुछ स्थानीय एजेंटों पर ही निर्भर रहने के कारण कुछ 'खास आदमियों' की नियुक्ति के उनके आग्रह को ठुकराने में असमर्थता (ये कुछ 'खास आदमी' शिक्षित भी हो सकते हैं और अल्पशिक्षित भी), (3) पूर्ण वेतनभोगी तथा पूर्णकालिक संवाददाता की नियुक्ति सम्भव नहीं, (4) पारिश्रमिक या पुरस्कार इतना कम है कि उसे प्रोत्साहन-राशि भी नहीं कहा जा सकता—बस पन्द्रह से पचास रुपये तक।

सम्पर्क के लोभ तथा मोह से मात्र डाक-खर्च और कुछ और खर्च पर संवाददाता बन जाने के लिए जैसा उलटा-सीधा प्रयास कम पढ़े-लिखे लोग कर ले जाते हैं, उतना पढ़े-लिखे लोगों में कम ही लोग कर पाते हैं, हालाँकि उनमें भी सम्पर्क करने और बढ़ाने की इच्छा उतनी ही होती है। पढ़े-लिखे लोगों के संवाददाता न बन सकने के सम्बन्ध में एक बात यह भी तो है कि यदि पूर्ण वेतनभोगी की तरह पूर्णकालिक नहीं बनाये जा सकते तो पत्र-संचालको, व्यवस्थापकों तथा सम्पादकों के दाब में भी तो नहीं रह सकते। गाँवों में पूर्णकालिक संवाददाता रखने की बात तो अपने यहाँ सोची भी नहीं जा सकती। कानूनन जो वेतनमान, भत्त तथा सुविधाएँ पूर्णकालिक संवाददाता को देनी होंगी, क्या इतने सारे ग्रामीण संवाददाताओं को देना यहाँ के पत्रों के लिए सम्भव है? जो सुशिक्षित व्यक्ति कहीं और नौकरी नहीं करता तथा बेरोजगार है, वह संवाददाता बन तो जाता है, किन्तु दूसरे क्षेत्र में चले जाने या नौकरी मे लग जाने से उसके सम्बन्ध में स्थायित्व का निश्चय नहीं रहता। यह स्थायित्व जरूरी है। किसी व्यक्ति के थोड़ा-बहुत अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद खिसक जाने से नये व्यक्ति को नये सिरे से अनुभव प्राप्त करना पड़ता है—यह एक क्षति होती है। अतः स्थायित्व की दृष्टि

गाँव में ही पड़े रहने वाले पढ़े-लिखे लोगों से ही काम चलाना ज्यादा अच्छा समझ लिया गया।

कम पढ़े-लिखे लोगों की भाषा कैसी होगी, उनका भाषा पर कितना और कैसा अधिकार होगा—बताने की आवश्यकता नहीं। इनके भेजे हुए समाचारों की भाषा जिलों के समाचारों का सम्पादक ठीक करता है। किन्तु, अशुद्धियाँ इतनी ज्यादा रहती हैं और समाचारों का इतना ढेर लगा होता है कि जिलों के समाचारों का सम्पादन करने वाले की पूरी मेहनत, पूरे भाषा-ज्ञान और पूरी सावधानी के बावजूद काफी अशुद्धियाँ रह जाती हैं। और फिर सम्पादक के पास इतना समय भी तो नहीं रहता कि एक-एक संवाददाता के एक-एक समाचार पर अपेक्षित समय लगा सके। उस बेचारे को कोई और सहायक भी तो नहीं मिलता।

इस स्थिति में यही सोचा जा सकता है कि अल्पशिक्षित संवाददाता स्वयं ही सुशिक्षित होने और सही भाषा लिखने के लिए प्रेरित हों। संवाददाता को प्रेरित करने के लिए सम्पादक पहले यह काम तो कर ही सकता है कि उससे बराबर यह कहता रहे कि "तुम चाहे जिस तरह संवाददाता बने हो, 'संवाददाता-नाम सार्थक करने के लिए तथा पत्रकार कहलाने की लाज रखने के लिए अपनी भाषा सुधारने और अन्य योग्यताएँ अर्जित करने का कुछ प्रयास खुद भी तो करो और यह देखते रहो कि तुम्हारे समाचार की भाषा कैसे सुधारी गयी है।" इसके अलावा इन संवाददाताओं के न्यूनतम प्रशिक्षण की व्यवस्था की भी बात जरूर सोचनी चाहिए। संवाददाता को यह बात दिमाग में रखनी चाहिए कि सम्पादकीय संशोधन तथा सुधार के बावजूद कुछ गलतियाँ रह जा सकती हैं। इसे भी वह चाहे तो अपने गाँव के ही किसी गुरुजन से समझकर ठीक कर ले सकता है।

संवाददाता को क्लिष्ट भाषा में तो लिखने की जरूरत ही नही होती; अतः सरल तथा स्पष्ट भाषा सीखने में उसे न तो कोई कठिनाई होनी चाहिए और न देर लगनी चाहिए, क्योंकि यह मान लिया गया है कि अखबारी भाषा का स्पष्ट और सुबोध होना बहुत जरूरी है और उसके क्षेत्र के आम पाठक सरल और सीधी-सादी भाषा ही समझ सकते हैं। अपनी भाषा के व्याकरण के अनुशासन पर भी ध्यान रखना होगा और उसकी पूरी जानकारी धीरे-धीरे प्राप्त कर लेनी होगी। किसी दूसरे संवाददाता की भाषा की नकल आँख मूँदकर नहीं करनी चाहिए।

जिन कुछ पत्रों के अग्रलेख तथा टिप्पणियाँ भाषा की दृष्टि से सचमुच अच्छी हों, उनका सम्पादकीय स्तम्भ पढ़ना आवश्यक समझा जाय। भाषा की दृष्टि से मान्य एकाधिक मासिक पत्रिकाएँ भी पढ़ते रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में संवाददाता का एक कर्तव्य अपने लिए और साथ ही औरों के लिए यह है कि यदि उसके क्षेत्र में कोई अच्छा वाचनालय न हो तो उसे अच्छा बनाया जाय और यदि हो ही नहीं तो स्थापित किया जाय। इससे भाषा की ही नहीं और भी सम्पादन-कार्यों की जानकारी होगी।

भाषा के सम्बन्ध में 'कामचलाऊ' वाली बात से अन्य पृष्ठों या स्तम्भों की स्थिति जितनी खराब हो जाती है, उससे कहीं खराब जिलों के समाचारों के पृष्ठों या स्तम्भों की देखी

जा सकती है, क्योंकि इससे संवाददाता को और ढील मिल जाती है और सम्पादक जितना ध्यान दे सकता है, श्रम कर सकता है, उससे अधिक ध्यान नहीं दिया जा सकता, श्रम नहीं किया जा सकता। परिणामस्वरूप जिलों के समाचारों के पृष्ठ या स्तम्भ और भ्रष्ट हो जाते हैं।

देशी भाषाओं के एकाधिक समाचार-पत्रों के मुकाबले अंग्रेजी के कई समाचार-पत्र आज भी अखिल-देशीय बने हुए हैं और उनका मान भी है। अंग्रेजीदाँ या अंग्रेजी परस्त अभिजात वर्ग अंग्रेजी अखबार पढ़ने में जितनी शान समझता है, उतनी शान उसे अपनी मातृभाषा के पत्र को भी पढ़ने में नहीं महसूस होती। बात इनकी शान की ही नहीं, अंग्रेजी पत्रों के स्तर की भी है। चूँकि अंग्रेजी जानने वाले अभिजात वर्ग के लोग अपने विशेष 'अंग्रेजी-प्रेम' और साथ ही 'अंग्रेजी-ज्ञान' के कारण अंग्रेजी में किसी प्रकार की त्रुटि देखते ही मुँह बिचका लेते हैं, इसलिए अपने इन पाठकों का ख्याल रख कर अंग्रेजी के समाचार-पत्र (खास करके जो अखिल-देशीय हैं) भाषा के सम्बन्ध में आज भी बहुत सावधान रहते हैं। उनके यदि जिला-स्तर के भी कोई संवाददाता हुए तो उनसे भी अंग्रेजी के अच्छे ज्ञान की अपेक्षा की जाती है।

देशी भाषाओं के पत्र भी थोड़ा-सा ध्यान देने पर अपने पत्रों को भाषा की दृष्टि से तो सुधार ही सकते हैं। संकट इतना नहीं है कि सम्पादक-मंडल के सदस्यों की भी भाषा दुरुस्त न हो। मुख्य संकट संवाददाताओं की भाषा का है जिसे कुछ तो संवाददाताओं को स्वयं दूर करना होगा—जैसा ऊपर बताया गया है—और कुछ पत्र-संचालकों तथा सम्पादकों को।

ये अपेक्षित गुण

भाषा की ही तरह कुछ ऐसे न्यूनतम गुण हैं जिनकी अपेक्षा सभी संवाददाताओं से की जाती है—श्रेणियों की भिन्नता के किसी विचार के बिना। सर्वप्रथम और न्यूनतम गुण या अपेक्षा यह है कि कागज (नोटबुक), कलम या पेन्सिल हर क्षण अपने पास हो, ताकि कहीं से कुछ मालूम होते ही उसे नोट कर लिया जाय। स्मरणशक्ति कितनी ही तेज क्यों न हो, हर बात उसी के (स्मरणशक्ति के) हवाले कर देना ठीक नहीं है। समाचार कागज के एक ही ओर लिखना चाहिए (पीठ सादी रहनी चाहिए) क्योंकि यदि सम्पादक को प्रेस में समाचार अलग-अलग फाड़कर देना हो तो दूसरी ओर का समाचार निकल जायगा। समाचार पहले या बाद मे देने के विचार से भी कागज फाड़ना पड़ता है अच्छा तो यही है कि हर समाचार अलग-अलग कागज पर हो। ऐसा होने पर दोनों ओर लिखने से सम्पादक को कोई दिक्कत नहीं होगी। हासिया छोड़कर लिखना चाहिए। समाचार पेन्सिल से नहीं, कलम से लिखा जाय और दूर-दूर लिखा जाय। इस प्रकार, मतलब यह कि समाचार ऐसे लिखकर भेजा जाय कि सम्पादक को सम्पादन में और कम्पोजीटर को कम्पोजिंग में असुविधा न हो। हर संवाद के ऊपर 'निज संवाददाता' या 'हमारे सम्वाददाता' लिखा होना चाहिए और हर पृष्ठ पर संवाददाता का हस्ताक्षर होना चाहिए हो सके तो हर संवाद पर [illegible]

से शीर्षक भी लगा दे। संवाददाता अपनी समझ से समाचार के जिस अंश को महत्वपूर्ण समझता हो, उसे सबसे पहले (सबसे ऊपर) रखे।

चूँकि समाचार का सुराग मिलते ही तुरन्त चल देना पड़ता है, इसलिए यह जानना बहुत जरूरी है कि कब-कब, कहाँ-कहाँ के लिए बसें तथा ट्रेनें मिलती हैं। इसीलिए संवाददाता को कलाई-घड़ी भी आवश्यक है। घड़ी की व्यवस्था स्वयं करनी पड़ेगी। जो 'बेचारा' पत्र-संचालक कोई 'प्रोत्साहन-राशि' भी नियमित रूप से न दे सकता हो, उससे ढाई-तीन सौ रुपये की घड़ी की आशा कैसे की जा सकती है। घड़ी की ही तरह साइकिल की भी व्यवस्था संवाददाता को स्वयं करनी चाहिए—साइकिल चलाना उसे जरूर आना चाहिए।

संवाददाता को दब्बू नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार उसे बहुत जल्दी उत्तेजित या क्रुद्ध भी नहीं होना चाहिए। बात-बात में क्रुद्ध या उत्तेजित होने वाला और दब्बू व्यक्ति सफल संवाददाता नहीं हो सकता। आत्मलाघव या हीनता की भावना भी संवाददाता के लिए दुर्गुण है। अत्यधिक श्रेष्ठता की भावना या घमंड के बारे में भी यही बात कही जायगी। संवाददाता को हाजिरजवाब, विनोदप्रिय, व्यंग्योक्ति-कुशल तथा हर तरह से चालाक होना चाहिए। ये सारी बातें स्वभाव-साधना की हैं जिनका सम्बन्ध अनिवार्यतः उच्च शिक्षा से जोड़ना सही नही होगा। हाजिरजवाबी, विनोदप्रियता, व्यंग्य, सहिष्णुता, आत्मलाघव-मुक्ति आदि सुशिक्षितो की बपौती नहीं। बहुत से ऐसे अशिक्षित तथा अर्धशिक्षित व्यक्ति मिलते हैं जो पढ़े-लिखे लोगो से अधिक बुद्धिमान्, हाजिरजवाब, विनोद-व्यंग्यप्रिय होते हैं।

संवाददाता बड़ा हो या छोटा, पूर्णशिक्षित हो या अल्पशिक्षित, यदि वह अपने को संवाददाता कहने में अपना कोई महत्व देखता है और गर्व करता है तो उसे समाचार-सजग रहना ही चाहिए और कहीं से कोई प्रोत्साहन मिले या न मिले, अपना समाचार-बोध स्वय बढाते रहना चाहिए या कम-से-कम बढ़ाते रहने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए। उसे समाचार के लिए हर क्षण आँख-कान खुले रखना होगा। यह एक सामान्य बुनियादी बात है जो सबके लिए सम्भव है। इससे यह ज्ञान स्वतः होता रहता है कि कैसी-कैसी घटनाएँ घट सकती हैं, कैसे-कैसे समाचार प्राप्त हो सकते हैं। इससे मस्तिष्क में समाचारों के चित्र और-और तरह से अपने-आप बनते रहते हैं। इससे समाचारी व्यक्ति बनकर अल्पशिक्षित संवाददाता भी किसी घटना का समाचारी महत्व जानने की कला या वैज्ञानिकता का विकास स्वयं कर लेता है। वह किसी को भी यह समझा सकता है कि यह जरूरी नहीं है कि किसी छोटी घटना का कोई बड़ा समाचारिक महत्व न हो।

समाचार-मूल्यांकन की समझ या समाचार-बोध किसी समाचार-सम्पादक के लिए जितना जरूरी है, उससे कम जरूरी संवाददाता के लिए नहीं है। 'समाचार क्या होता है?' 'उसकी परिभाषाएँ क्या-क्या की गयी हैं?' इनका विस्तृत ज्ञान संवाददाता को भी होना जरूरी है। इस सम्बन्ध में यहाँ दो बातें दोहरा लेनी चाहिए—किसी घटना का समाचारी महत्व जाने या निकाले बिना उसे समाचार नहीं समझ लेना चाहिये, 2. दैनिक में चौबीस घटे बाद और साप्ताहिक में एक सप्ताह बाद किसी समाचार में समाचारत्व नहीं रह जाता या बहुत घट जाता है।

अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए संवाददाताओं को आपस में बराबर मिलते-जुलते रहना चाहिए ताकि विचारों का कुछ आदान-प्रदान होता रहे। एक-दूसरे का सम्मान तथा आपस में सहयोग भी ज्ञानार्जन में बहुत सहायक होता है। अपने-अपने पत्र के बीच प्रतिद्वन्द्विता तथा कुछ गोपनीयता के बावजूद संवाददाताओं का सहयोग चल सकता है। योग्यतार्जन के ही प्रसंग में यह सलाह भी ध्यातव्य है कि स्वयं संवाददाताओं के संगठनों तथा मंचों से जो यह शिकायत उठती रहती है कि स्वार्थ या व्यक्तिगत अहं के कारण वे आपस में ही उलझे रहते हैं, उसे दूर किया जाय।

आदर्शगत योग्यता की ही दृष्टि से नहीं, व्यावहारिक योग्यता की भी दृष्टि से यह आवश्यक है कि अन्य लोगों के मोहरे बनकर एक-दूसरे के विरुद्ध काम करने की जिस भयंकर बात की ओर कुछ बड़े तथा भुक्तभोगी पत्रकारों ने संकेत किया है, उसकी उपेक्षा न की जाय। साथ ही यहाँ यह चेतावनी भी ध्यातव्य और विचारणीय है कि व्यक्तिगत विज्ञापन को समाचार का रूप दे देने या उसमें समाचारत्व ला देने की कला या कुशलता समाचारत्व के लिए घातक है और यह वस्तुतः सामाचारिक कला या कुशलता नहीं है। नये-नये संवाददाताओ के लिए तो यह तथाकथित कला और घातक है, क्योंकि इससे शुरू में ही समाचार-बोध के मार्ग में अवरोध पड़ जाते हैं।

प्रोत्साहन की कोई स्थिति न होने पर भी

जहाँ पत्र-संचालकों की ओर से सहायता या प्रोत्साहन नाम की कोई चीज ही न हो, वहाँ छोटे संवाददाताओं (ग्रामीण क्षेत्र के या जिला-स्तर के संवाददाताओं) से उन विशेष योग्यताओं की न तो आशा की जा सकती है न, उन्हें अर्जित करने की सलाह दी जा सकती है जो बड़े-बड़े संवाददाताओं को प्राप्त हैं। किसी भी संकट तथा साहसिक कार्य की परीक्षा के लिए भी तैयार रहने की सलाह नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार सबको आशुलिपि, फोटोग्राफी, टाइपिंग आदि सीखने की सलाह भी एक ज्यादती या अव्यावहारिक लगेगी। फिर भी, यदि कुछ संवाददाता इनमें से कुछ को एक शौक या शगल के रूप में अपना लें तो अच्छा ही है।

साधनहीनता के बावजूद संवाददाता जो कुछ कार्य करता है, उसे ही जितना अच्छा बनाना सम्भव हो, उतना अच्छा बनाने के लिए यदि वह प्रयत्नशील हो जाय तो अपनी सीमा मे तो योग्य अवश्य मान लिया जायेगा। फोन नहीं, वाहन नहीं, वाहन की कोई सुविधा नही और पैसा भी नहीं, तब भी किसी खास समाचार का सुराग मिलते ही समाचार-स्थल पर यथाशीघ्र पहुँच जाने का प्रबन्ध अपने ही साधनों तथा प्रयासों से कर लेना भविष्य के लिए अच्छा होता है। पत्र-संचालक या सम्पादक की ओर से टाइपिंग के ज्ञान की कोई शर्त न होने पर भी टाइपिंग सीख लेना अंततः लाभप्रद होता है।

अच्छा टाइपिस्ट होने के लिए भाषा पर भी अच्छा अधिकार होना चाहिए। आशुलिपि के ज्ञान तथा अभ्यास के लिए भाषा पर और अधिक अधिकार जरूरी है। यदि वे

दोनों के सीखने की इच्छा तीव्र हो जाय तो भाषा पर भी अधिकार करने की इच्छा तीव्रतर हो जायगी और भाषा पर अधिकार होकर रहेगा। जैसाकि पहले बताया गया है, संवाददाता अपनी भाषा स्वयं दुरुस्त कर ले सकता—यह उतना कठिन कार्य नहीं जितना आधुनिक पत्रकारिता के नवीनतम अंगों की जानकारी प्राप्त करने का काम है।

वास्तव में सबसे बड़ी चीज है जिज्ञासा। यह हर पत्रकार के लिए जरूरी है। जिज्ञासु किसी के बनाये नहीं बना जाता—उसे स्वयं बनना पड़ता है और कोई भी व्यक्ति बन सकता है। जिज्ञासा के बिना तो अर्जित योग्यता भी क्षीण हो जाती है। जिज्ञासा के साथ लगन भी होनी चाहिए। कोई व्यक्ति बहुत ज्यादा शिक्षित न भी हो, तो भी वह जिज्ञासा तथा लगन से अभाव की पूर्ति कर लेता है, सुशिक्षित और सुयोग्य बन जाता है—यह बात संवाददाता को अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

जिन संवाददाताओं में अपने से अधिक योग्यता तथा अनुभव हो, उनसे कुछ जानने और सीखते रहने में अन्य संवाददाताओं को कोई संकोच नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार जहाँ कहीं और जैसे भी अधिक योग्यता प्राप्त करने का अवसर मिले, वहाँ और वैसे उसे प्राप्त कर लेने के लिए तत्पर रहना चाहिए। जैसे—अपने जिले में कहीं किसी विशिष्ट राजनेता या राजनीतिक नेता के पहुँचने पर कोई प्रेस-कान्फरेंस भी आयोजित हो तो उसमें जिले के मुख्य कार्यालय के संवाददाता ही नहीं, पत्र के सभी संवाददाता पहुँच जायँ। प्रेस-कान्फरेंस यदि बहुत महत्वपूर्ण हुई तो बाहर के भी बड़े-बड़े संवाददाता आ सकते हैं। इन अधिक अनुभवी तथा योग्यतर संवाददाताओं से प्रेस-कान्फरेंसों के बारे में बहुत-कुछ सीखा जा सकता है। वे संवाददाता किस-किस ढंग से और कैसे-कैसे प्रश्न करते हैं, यह देखकर भविष्य में स्वयं चुन-चुनकर प्रश्न करने और अकेले ही साक्षात्कार करने का धड़का खुल जाना आसान होगा।

यदि संवाददाता ने विश्वविद्यालयीय उपाधि प्राप्त नहीं की है और शैक्षिक योग्यता कम है तो भी वह प्रयास से सुशिक्षित ही नहीं, अध्ययनशील तथा विद्वान् हो जा सकता है। यह बात अपवादस्वरूप ही क्यों न मानी जाय, इससे सभी छोटे संवाददाताओं को कुछ प्रेरणा तो दी ही जा सकती है, कुछ उत्साहित तो किया ही जा सकता है। इस सम्बन्ध में सी० वाई० चिन्तामणि, बाबूराव विष्णु पराड़कर जैसे कुछ पत्रकारों के नाम तथा काम आदर्श रूप मे सामने रखना अच्छा होगा। विश्वविद्यालयीय उपाधि के बिना इन लोगों ने पत्रकारिता मे अपनी विद्वत्ता की धाक जमा ली थी।

संवाददाता के ही रूप में—किसी भी स्तर पर—काम करते-करते विश्वविख्यात पत्रकार हो गये दो और व्यक्तियों के नाम यहाँ प्रेरणार्थ रख दिये जा रहे हैं—स्काट संवाददाता के ही रूप में पत्रकारिता में प्रविष्ट हुए थे। इसी प्रकार स्टीड का भी नाम लिया जायगा। जाने कितने प्रसिद्ध साक्षात्कारकर्ता ग्राम्य-स्तर से तरक्की करते-करते ऊपर उठकर प्रसिद्ध हुए हैं।

अन्त में कम-से-कम देशों के औसत दर्जे के पत्रों के सम्पादकों की भी

ज्यादती तथा धाँधली, लेखपाल तथा कानूनगो का गोरखधन्धा, विद्यालयों में भ्रष्टाचार, खाद, बीज तथा पानी मिलने में कठिनाई—इन समस्याओं से ही गाँव के समाचार बनते हैं। इसी प्रकार घर उजड़ जाने, कुएँ पट जाने, सड़कों के ऊबड़-खाबड़ हो जाने अस्पतालों से दवाओं के गायब हो जाने, विद्यालय-भवन ध्वस्त हो जाने और उसी में पढ़ाई चलाते रहने, बिना डाक्टरों के ही अस्पताल चलने, अकाल तथा सूखा पड़ने, बाढ़ से खेती-बारी, घर-बार नष्ट होने और आपसी कलह तथा झगड़ों से जनजीवन अशान्त रहने से भी कैसे-कैसे समाचार बनते हैं, इसका उल्लेख करते हुए विजयकुमार भी ने सही ही शिकायत की है कि इन्हें वैसे शीर्षक प्राप्त नहीं होते जैसे शहर के समाचारों को प्राप्त हो जाते हैं।

किन्तु, एक ओर जहाँ विजयकुमारजी का लेख हमें विशेष रूप से आकृष्ट करता है, वहीं दूसरी ओर हमारे मन में यह प्रश्न भी उठा देता है कि जिस प्रकार विजयकुमारजी तथा उनके जैसे कुछ और संवाददाता समस्या-सजग तथा समाचार-सजग हैं, उसी प्रकार क्या सभी गाँव-संवाददाता सजग हैं, क्या उसी प्रकार वे स्वयं सजग नहीं हो सकते? यह बात दूसरी है कि सजग होने पर शहर-केन्द्रित अखबारों में उनके समाचारों को वैसे ही शीर्षक प्राप्त न हों जैसे शहर के समाचारों को प्राप्त हो जाते हैं। सजगता का यह अभाव—चाहे अपने कारणों से हो या दूसरों के कारण से—एक बड़ा दोष है।

"ग्रामीण क्षेत्रों में भी शहरी क्षेत्रों की तरह पनपी राजनीति में आत्मप्रचार, समाचार-पत्रों के सहारे राजनीतिक लाभ कमाने वालों की वक्तव्यबाजी तथा थानेदार या अन्य अधिकारियों की तरह और लोगों में भी पनपी डराने-धमकाने की प्रवृत्ति" का सामना और इनसे परेशानी की भी बात सही है; किन्तु, यह बात भी ध्यान देने की है कि राजनीतिक लाभ उठाने वालों तथा विभिन्न अधिकारियों के पीछे-पीछे दौड़ने की एक प्रवृत्ति अधिकांश संवाददाताओं की भी तो है या हो गयी है।

संवाददाताओं को निर्भीक रखने, साधनहीनता की स्थिति समाप्त करने, किसी भी हालत में अपने संवाददाता के विरुद्ध किसी अधिकारी या बड़े आदमी का पक्ष न लेने का कर्तव्य और इसी प्रकार कुछ दूसरे कर्तव्य पत्र-संचालक करते हों या न करते हों, संवाददाताओं के लिए अपने कर्तव्यों का निर्वाह जहाँ तक सम्भव है और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जहाँ तक अपनी योग्यता बढ़ायी जा सके, वहाँ तक संवाददाता को कर्तव्यों का निर्वाह करना ही पड़ेगा, योग्यता बढ़ानी ही पड़ेगी—यदि उसे संवाददाता बराबर बने रहना है, संवाददाता कहलाना प्रिय है और गाँव की कुछ सेवा करते रहने के लिये अखबार का यथासम्भव उपयोग करते रहना है।

संवाद-बोध : आदर्श और व्यवहार

जैसाकि इसी पुस्तक में अन्यत्र तथा पत्रकारिता पर इसी लेखक की अन्य पुस्तकों में बताया गया है, संवाददाता समाचार-संसार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है—आधार-स्तम्भ। प्राचीन काल में 'संवाददाता' नाम भले ही न पड़ा हो, जिस किसी तरह जो संवाद प्राप्त होते थे, उसका श्रेय उनके प्राप्त करने तथा प्रसारित करने वाले को ही था। आज समाचार-पत्रों में जितने समाचार प्रकाशित होते हैं, उन सबके पीछे कोई-न-कोई संवाददाता ही होता है—अपना या संवाद-समितियों का। यन्त्रयुग की प्रगति को देखते हुए भी यह कल्पना नहीं की जा सकती कि यन्त्र ही संवाददाता का काम करेंगे और कहीं कोई संवाददाता नहीं रह जायगा, जैसाकि 'लाखों की एक शक्ति' शीर्षक अध्याय में कहा गया है, यन्त्रीकरण से संवाददाताओं की संख्या घटेगी नहीं, कुछ बढ़ेगी ही।

'संवाद' से, इस प्रकार, जिसका इतना सम्बन्ध रहा है और रहेगा, उसे कोई ठोस सुपरिभाषित या स्वानुभूत संवाद-बोध न हो—यह एक आश्चर्य की ही बात कही जायगी। वस्तुतः संवाद-बोध प्रथमतः संवाददाता को ही होता है या होना ही चाहिए। हाँ, 'समाचार-मूल्यांकन की समझ' यदि संवाद-बोध से कुछ भिन्न है तो उसकी (समाचार-मूल्यांकन की) समझ में संवाददाता का स्थान समाचारपत्र-कार्यालय में रत सम्पादकों के बाद रखा जायगा। किन्तु, सम्पूर्ण विश्लेषण यही बताता है कि वस्तुतः समाचारों का मूल्यांकन समाचार-बोध के ही अन्तर्गत होता है। जो कुछ भी हो, वस्तुस्थिति यह है कि जो चाहिए, वह सामान्यतः है नहीं। अधिकांश संवाददाताओं में इसका अभाव है, जबकि उनके लिए यह सहज माना गया है। इसीलिए तो ऊपर हमने जहाँ यह कहा है कि 'संवाद-बोध प्रथमतः संवाददाता को होता है', वहीं यह भी कहना पड़ा है कि 'या होना ही चाहिये'।

संवाद-बोध संवाददाता के लिए सहज तभी हो सकता है जब वह यह हृदयंगम कर ले कि "वह संवाद के लिए संवाददाता बना है, इसलिए उसे हर क्षण अपने आँख-कान खुले रखने हैं और अपने में एक समाचार-इन्द्रिय विकसित करनी है"। ऐसा संवाददाता कालान्तर में सम्पादन-ज्ञान अर्जित कर लेने पर बहुत अच्छा समाचार-सम्पादक हो जा सकता है। सही माने में समाचार-बोध होने पर 'समाचार-मूल्यांकन की समझ' के अनुसार समाचारों के चयन तथा क्रम-निर्धारण में कठिनाई नहीं होती। यह सही है कि संवाददाता अपने ही क्षेत्र के संवादों तक सीमित रहता है, जबकि समाचार-सम्पादक के सामने, जाने कितने क्षेत्रों के संवाददाताओं द्वारा भेजे गये और समाचार-समितियों से मिले समाचारों को निपटाने की समस्या रहती है; फिर भी, यदि संवाददाता अनेक क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय समाचार-पत्रों का अवलोकन करता रहता है, तो उसे भी समाचारों के मूल्यांकन की समझ के अनुसार क्रमा

चारों के चयन तथा क्रम-निर्धारण का औसत ज्ञान हो ही जाता है और अखबार के सम्पादक मण्डल में काम करने का अवसर मिलने पर वह अपने को कुशल समाचार-सम्पादक सिद्ध कर सकता है।

प्रायः दो-चार तरह के ही समाचारों में रम जाने से सहज समाचार-बोध कुंठित हो जाती है। खास करके स्थानीय प्रचारप्रिय नेताओं के वक्तव्यों तथा भाषणों और अधिकारी-विशेष की दिलचस्पी वाले समाचारों ने बहुत-से संवाददाताओं की प्रकृति ऐसी कर दी है कि वे उनके आगे बढ़कर अपने समाचार-बोध को विकसित करने के लिए चिन्तित ही नहीं रहते। वास्तविक समाचार-बोध के लिए चिन्तित संवाददाताओं को यह समझने में कठिनाई नही होती कि आम जनता के बीच का आदमी बने रहने पर अच्छे और विविध समाचार मिलते तथा बनते हैं। यहाँ समाचार-बोध का जो विवेचन किया जा रहा है, उसे ऐसे ही संवाददाता व्यापक अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं। इसी में वे अपनी वास्तविक लोकप्रियता भी देखते हैं।

पत्रकारिता का पूरा ज्ञान

समाचार-बोध के ही प्रसंग में यह समझ लेना आवश्यक है कि संवाददाता को अन्य सभी पत्रकारों से तथा पत्रकारिता के सम्पूर्ण ज्ञान से अलग रखकर देखना गलत होगा और इससे संवाददाताओं की भावनाओं को ठेस लगना भी स्वाभाविक होगा। संवाददाता भी जब पत्रकार माने जाते हैं, तब उनके सम्बन्ध में पत्रकारिता के सम्यक् ज्ञान की बात क्यों न सोची जाय ? और अच्छा तो यह होगा कि वे स्वयं यह बात सोचें। कहा जा सकता है कि जब बाहर ही बाहर घूमते रहने वाले संवाददाता को समाचारों का चयन, समाचारों का महत्व, क्रम-निर्धारण और पृष्ठों की सजावट का काम करना ही नहीं पड़ता, अग्रलेख या टिप्पणी लिखने की कोई अपेक्षा उससे की ही नहीं जाती तो उसे इन सबके ज्ञान या अनुभव की क्या आवश्यकता ? प्रश्न वैसे ठीक ही है, किन्तु यदि बाहर रहकर भी इनकी जानकारी में कोई रुचि हो सके और जिज्ञासा बढ़ सके तो उससे जिस एक महत्वपूर्ण ज्ञान—'समाचार-बोध'—की अपेक्षा की जाती है, वह समृद्ध होगा। यह सभी संवाददाताओं के सम्बन्ध में भले ही व्यावहारिक न हो, कुछ के लिए तो हो ही सकता है।

संवाद-संग्रह का कार्य पत्रकारिता से और पत्रकारिता के अन्य कार्यों से सर्वथा अलग—स्वतन्त्र—कार्य नहीं है और इसीलिए संवाद-बोध भी उससे अलग नहीं है। तो फिर, पत्र-सम्पादन के अन्य कार्यों की जानकारी से संवाद-संग्रह तथा संवाद-बोध को अलग कैसे रखा जाय ? आधुनिक पत्रकारिता का तकाजा है कि जो पूर्णकालिक संवाददाता हों, कम से कम वे तो सम्पादन के विभिन्न अंगों का अनुभव प्राप्त कर चुके हों या संवाददाता का कार्य करते हुए (संवाददाता के कार्य के साथ ही) उनका अनुभव प्राप्त करते रहें। अखबारों का नियमित रूप से पढ़ना तथा पत्रकारिता की पुस्तकों का भी अध्ययन करते रहना आज के संवाददाता के लिए उतना ही अपेक्षित है जितना अन्य पत्रकारों के लिए

यद्यपि अपने पूर्णकालिक संवाददाताओं को केवल संवाद-संग्रह के लिए ही छोड़ दिया जाता है और इस एक कार्य में लग जाने के बाद और कोई कार्य करने की फुर्सत ही नही मिलती, तथापि यह तो हो सकता है कि बीच-बीच में सम्पादक-मण्डल के किसी अन्य सदस्य को संवाददाता के कार्य पर लगाकर संवाददाता को सम्पादन के विभिन्न कार्यों मे लगाते रहा जाय। किन्तु, मुसीबत यह है कि जो संवाददाता-पद पर नियुक्त होता है, उसे प्रायः सम्पर्कवाद में ही दिलचस्पी अधिक रहने के कारण थोड़े दिनों के लिए भी उससे हटना दु:खद लगता है और धुकधुकी लगी रहती है कि उसे कहीं कार्यालय में ही बराबर बैठा रहने वाला न बना दिया जाय।

यदि कोई संवाददाता के रूप में विशेष सफलता प्राप्त करना चाहता है तो वह उपर्युक्त धुकधुकी से मुक्त रहकर आत्मविश्वासपूर्वक कार्यालय में सम्पादक-मण्डल की मेज पर बैठता है। अन्य साथियों के साथ बैठकर वह यह जानकारी विकसित करता है कि संवाद समझकर जो संवाद प्राप्त किये जाते हैं और प्रस्तुत किये जाते हैं, उनमें समाचारत्व कितना है और क्यों है। यह जानकारी ही संवाद-बोध को एक गम्भीर अर्थ देती है। घिसे-पिटे ढग से घिसे-पिटे समाचारों को स्थान देने के बजाय विशेष समाचार-रुचि तथा विशेष समाचार-बोध से प्राप्त समाचारों को स्थान कैसे दिया जाय—यह सीखने के लिए भी सम्पादक-मण्डल के अन्य सदस्यों के साथ बैठना जरूरी है। इस प्रकार बैठकर संवाददाता सीखता ही नही, सिखाता भी है और जब फिर संवाद की खोज में निकलता है तो उसे अनुभव होता है कि उसका संवाद-बोध सचमुच विशिष्ट है।

संवाददाता को यह बोध कराने के लिए भी सम्पादकीय मेज पर कुछ समय तक (बीच-बीच में) बैठते रहना आवश्यक है कि अपने सभी समाचारों को महत्वपूर्ण ढंग से प्रकाशित देखने की इच्छा उसके समाचार-बोध के विकास में बाधक होती है। यह बोध होने पर यह अपेक्षित चिन्ता बढ़ती है कि उसके संवाद पाठकों को सचमुच आकृष्ट कैसे करें और वे कुछ खास लोगों के ही स्वार्थ में पढ़े जानें वाले न हों। सहज समाचारों के विरुद्ध आरोपित समाचारों में संवाददाताओं की रुचि जिस स्वच्छन्दता के कारण बढ़ती है, उस पर अकुश लगाने के लिए भी सबके साथ बैठना होगा।

सवादनिष्ठा ही आदर्श

जो संवाददाता अपने सामने 'समाचार की विशुद्धता तथा निष्पक्षता' का आदर्श रखता है, उसी के लिए 'संवादनिष्ठ' विशेषण प्रयुक्त हो सकता है। यही आदर्श उसका सर्वप्रमुख आदर्श होना चाहिए। आदर्शवादिता का दायित्व सबसे पहले संवाददाता पर ही आता है, क्योंकि हर समाचार किसी-न-किसी संवाददाता के हाथ से समाचार-पत्र में पहुँचता है—सीधे-सीधे या किसी समाचार समिति के माध्यम से। संवादनिष्ठ संवाददाता का समाचार-बोध शुद्ध तथा पुष्ट होना निश्चित है। यदि संवाददाता सचमुच अपनी महत्ता और सत्ता का कोई परिचय देना चाहता है तो वह मात्र संवाददाता बन जाने से नहीं दिया जा सकता वरन्

ऐसा संवाददाता बनने से दिया जायगा जिसकी संवादनिष्ठा पुष्ट तथा शुद्ध हो। संवादनिष्ठा का मतलब होता है—समाचारत्व की परख में मानवीय पक्ष पर विशेष ध्यान रखना।

आदर्श-संवादनिष्ठ संवाददाताओं के सामने निम्नलिखित आदर्श-कथन जैसे अधिकाधिक आदर्श-कथन प्रस्तुत रहते है, उन्हें प्रेरणा देते रहते हैं और व्यावहारिक लगते हैं—

1. "पत्रकार का पेशा राजनीति-दर्शन से नहीं, समाचार से सम्बद्ध है।"

—जार्ज बर्नार्ड शा

2. "समाचार मानव-समाज का पोषक तत्व तथा अवलम्ब है।" —डीफो

3. "बिना पक्षपात या व्यक्तिगत मत के, ठीक-ठीक और उचित रूप से समाचार प्राप्त करना तथा प्रस्तुत करना संवाददाता का पहला कर्तव्य है।" —कार्ल बारेन

4. "समाचार निष्पक्ष भाव से बिना तोड़े-मोड़े प्रस्तुत करना चाहिए।"

—'डेली टेलिग्राफ'

5. "हर पक्ष को यह अधिकार है कि उसकी बात सुनी जाय और उसका समाचार प्रकाशित हो।············किसी भी हालत में समाचारों में मिलावट नहीं होनी चाहिए और न उसे रंजित करना चाहिए। तथ्य पवित्र होते हैं और किसी पत्र के लिए अपनी अभिव्यक्ति के अधिकार का और प्रकाशन का उपयोग प्रचार के साधन के रूप में करना एक अभिशाप है।"

—सी० पी० स्कॉट

6. "कोई भी समाचार-कथा ऐसी होनी चाहिए जो लोगों को पसन्द लगे; यथासमय हो; ढंग से कही गयी हो, नयी हो, बहुत लम्बी न हो और सत्य प्रतीत हो। इन नियमों से भटक कर प्रस्तुत की गयी समाचार-कथा की ओर से बुद्धिमान लोग उदासीन हो जायेंगे।"

—स्टीलिंग फ्लीट

7. "समाचार ईमानदारी के साथ, बिना काटे-छाँटे और मानव-स्वभाव के निकृष्टतम पक्ष को छोड़ते हुए देना चाहिए। समाचार में रोचकता हो, किन्तु सनसनी नहीं; प्रभावात्मकता हो, किन्तु उन्माद नहीं; उसमें लोगों को विश्वास दिलाने की शक्ति हो, किन्तु हठधर्मी नहीं; उसके सम्पादन में गम्भीरता हो, किन्तु नीरसता नहीं।" —'टाइम्स'

8. 'जो होना चाहिए' उससे हटकर—आदर्श-संवादनिष्ठ संवाददाता उपर्युक्त आदर्श-कथन को अपने सामने रखने के साथ ही निम्नलिखित तथ्यों पर भी ध्यान रखता है, चिन्तित होता है और सतर्क रहता है—

1. "कभी-कभी रिश्वतखोरी और भ्रष्टता संवाददाता के पक्ष से और उस पक्ष से, जिससे समाचार प्राप्त होते हैं, आती है। पत्रकार को यह बात साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि वह न तो किसी के हाथ बिके और न रिश्वत स्वीकार करे।"

—मैन्सफील्ड. 'कम्प्लीट. जर्नलिस्ट'

2 पत्रों में किसी-न किसी तरह के प्रचार का ही बाहुल्य दिखलायी देता है और

यह प्रचार इस तरह किया जाता है कि केवल बहुत होशियार पाठक ही उसके जाल मे पड़ने से बच सकता है। भ्रामक शीर्षक, बिगाड़ कर रखे गये उद्धरण, पक्षपातपूर्ण भावानुवाद, भाषणों के अंगों की काट-छाँट, भाषणों के कुछ अंगों पर मोटे-मोटे शीर्षकों द्वारा अत्यधिक जोर—ये सारी बातें समाचार के बजाय विचार-नीति का परिणाम मालूम पड़ती हैं।''

—लार्ड इनबर क्लाइड

3. ''यहाँ भी अब बहुत-से समाचार-पत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिए नहीं रहे, सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं। उन्नति समाचार-पत्रों के आकार-प्रकार मे हुई है, खेद की बात है कि उन्नति आचरणों में नहीं हुई है।''

—गणेशशंकर विद्यार्थी

[आज से साठ वर्ष पूर्व गणेशशंकर विद्यार्थी ने जो भविष्यवाणी की थी और जो बिलकुल सही साबित हुई है, वह 'पत्रकारिता : संकट और संत्रास' में डेढ़ पृष्ठों में उद्धृत की गयी है। उनकी सारी बातों का आशय उपर्युक्त दो वाक्यों में केन्द्रित है।]

4. सन् 1924 में नटिंघम में हुई पत्रकारिता-कांग्रेस में पढ़े गये अपने एक निबन्ध मे एच० डब्लू० मैसिंघम ने समाचार-पत्रों के समाज-विरोधी तक होने की बात बड़े जोरदार ढंग से कही थी। उनके अनुसार, समाचार-पत्रों में अब समाज-विरोधी समाचारों की भरमार रहती है। उन्होंने यह दिखलाया था कि अब अखबारों में युद्ध, अपराध, उत्तेजक मनोरंजन तथा जुआ के समाचार महत्वपूर्ण ढंग से इसलिए नहीं छपते कि उनमें पाठकों की रुचि अधिक होती है या वे ही अधिकता से मिलते हैं, बल्कि इसीलिए छपते हैं कि वे (अखबार) स्वयं युद्ध, अपराध, उत्तेजक मनोरंजन, जुआ आदि पसन्द करते हैं। उनकी इस पसन्द का कारण यह है कि इससे अखबार की बिक्री होती है और पूँजी की सत्ता कायम रहती है।

आदर्शनिष्ठा के महत्वपूर्ण विषय में यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि ''जब पत्रों की, पत्र-संचालकों की और सम्पादकों की ही प्रकृति में विकृति आ गयी हो, तो बेचारा सवाददाता ही विकृति से कैसे बचा रह सकता है या बचा रहे ?'' दूसरा प्रश्न यह है कि ''यदि किसी तरह 'जनता का आदमी' होने की भावना दृढ़ करके वह आम पाठकों के हित में पत्र-सचालकों तथा सम्पादकों को कुछ सलाह या सुझाव देना भी चाहे तो किस अधिकार या बल से दे ?''

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, यह सही है कि पत्रकारिता के जिस नीतिशास्त्र या आचरण-संहिता की चर्चा आज भी होती रहती है, उसमें छोटे-बड़े का या अधिकारी और अधीनस्थ का भाव या विचार त्याग कर समाचार-सम्पादन-कार्य में लगे सभी व्यक्तियों की सलाह और उनके सुझाव पर ध्यान देने की बात कही गयी है। अनुभव भी यही बताता है कि सम्पादकों को अक्सर फोरमैन तथा मेकअपमैन जैसे अन्य कर्मचारियों की भी बात माननी पड़ती है—अपने का या 'विशेष ज्ञान' का मद त्याग कर। किन्तु, कितने लोग इस पर ध्यान देते हैं ?

यदि सभी संवाददाताओं के सम्बन्ध में नहीं तो अपवादस्वरूप कुछ संवाददाताओं के सम्बन्ध में किसी हद तक यह सोचा जा सकता है कि वे 'जनता के आदमी' की भावना से तथा आदर्शोन्मुखता की थोड़ी-बहुत साधना से अपना आचरण शुद्ध रख सकते हैं और अपनी ओर से समाचार का जनहितकारी पक्ष कायम रखने का कुछ प्रयत्न करते रह सकते हैं। यदि सञ्चालकों तथा सम्पादकों की ही प्रकृति में विकृति के दुष्प्रभाव से अपने को बचाये रखना बहुत कठिन है तो भी यह असम्भव नहीं है। यह मानकर और समझकर कि अभी पूर्ण अंधकार नहीं हुआ है, यानी अच्छाइयाँ बिलकुल लुप्त नहीं हुई हैं, अच्छे संवाददाता अच्छाइयों को अपनाये रख सकते हैं।

आदर्श और व्यवहार में सामंजस्य कैसे ?

'आदर्श के लिए आदर्श' आज किसी के लिए भी सम्भव नहीं मालूम होता। तो फिर, सवाददाता के लिए ही—सो भी उन संवाददाताओं के लिए जो घोर सम्पर्कवादी तथा स्वार्थ-साधक हो गये हैं—यह सम्भव कैसे हो सकता है ? हाँ, अन्य पत्रकारों तथा किसी हद तक आदर्श की आवश्यकता को स्वीकार करने वाले कुछ पत्र-संचालकों के साथ मिलकर वे 'आदर्श के लिए आदर्श' का एक अभ्यास कर सकते हैं। 'आदर्श के लिए आदर्श' न सही, 'आदर्श और व्यावहारिकता के सामंजस्य' की बात आज भी सम्भव है और यदि यह सामंजस्य भी बिगड़ रहा हो तो उसे ठीक करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

आदर्श की आवश्यकता को किसी हद तक स्वीकार करने वाले पत्र-संचालकों तथा अन्य पत्रकारों के साथ मिलकर 'आदर्श के लिए आदर्श के अभ्यास' तथा 'आदर्श और व्यावहारिकता के सामंजस्य' की दिशा में स्वयं संवाददाताओं द्वारा पहल हो सके तो और अच्छा है। किन्तु, पहल की आशा बहुत कुछ प्रबुद्ध तथा समाचार-सजग या संवादनिष्ठ संवाददताओं से ही की जा सकती है। बावजूद इसके कि पत्रकारिता अपने में एक 'वाणिज्य तथा व्यवसाय' हो गयी है और वाणिज्य तथा व्यवसाय वालों से सम्बद्ध है, जब तीनों मिलकर विचार करेंगे तो यह बात समझ में आ जायेगी कि व्यावसायिक हित में भी समाचारों के सम्बन्ध मे ईमानदारी जरूरी है और कोरे आदर्श पर चलना सम्भव न होते हुए आदर्श और व्यवहार मे सामंजस्य तो हो हीं सकता है।

मालिकों को समझाने के लिए अन्य पत्रकारों को ही नही, संवाददाताओं को भी जे० बी० मेकी का कथन हृदयंगम करके मालिकों के सामने बार-बार रखना चाहिए—"जो पत्र-सञ्चालक सफलता के रहस्य को समझते हैं और जो अपने कब्जे की सम्पत्ति के मूल्यों को बनाये रखना तथा बढ़ाना चाहते है, वे यह अनुभव करते हैं कि वास्तविक समृद्धि सचाई के प्रयत्न मे लगी शक्तियों के साथ मिलकर ही हो सकती है।" यदि व्यावसायिक हित में ही पत्र की प्रतिष्ठा किसी हद तक बनाये रखने का विचार दृढ़ हो जाय तो यह समझना कठिन नहीं होगा कि विचारों में न सही, समाचारों में तो आदर्शवाद अपनाये रखना कितना आवश्यक है।

अपनी ही स्वार्थसिद्धि या प्रचारप्रियता या दूसरों के प्रभाव और दबाव में पड़कर

यदि पत्र-संचालक यह विश्वास कर लेते हैं कि एक बार उनके झूठ के जाल में फँस जाने के बाद पाठक उससे निकल नहीं सकते तो आम जनता के बीच रहकर उसकी भावनाओं तथा विचारों का सही प्रतिनिधित्व करने वाला संवाददाता साहस के साथ समझा सकता है कि यह विश्वास एक भ्रम है। संवाददाता स्वयं समझकर समझा सकता है कि 'एक बार यह जान लेने पर कि अखबार में सचाई छिपाई जा रही है या छिपायी जाती है पाठक पत्र पर विश्वास करना छोड़ देता है।'

पत्र-संचालकों को समझाया जा सके या न समझाया जा सके, संवाददाता को तो अन्य पत्रकारों के साथ यह समझ लेना चाहिए कि विचारों के मामले में न सही, समाचारो के मामले मे तो आदर्श का परिचय देना ही होगा, व्यक्तिगत विचारों या पत्र की नीति का रग समाचारों पर चढ़ने से रोकने का प्रयत्न करना ही होगा। आज समाचारों के साथ जिस कलात्मक ढंग' से व्यभिचार हो रहा है, इसे सम्पादक-मण्डल से दूर पड़े रहने वाले संवाददाता आसानी से नहीं पकड़ पाते। अतः इसे पकड़ने का प्रयास करके स्वयं इस कला के मोह मे न पड़कर उन्हें सावधान होना चाहिए।

लोकतंत्र और संवाददाता

अखबार के कार्यालय में ही बैठे रहने वाले पत्रकार लोकतंत्र पर पुस्तकें कितनी ही पढ चुके हों और पढ़ते रहें, वे 'लोक' के निकट नहीं होते या उनकी निकटता बहुत कम होती है। किन्तु, संवाददाता लोक के अधिक निकट रहता है, क्योंकि उसी के बीच रहकर, घूमकर उसे संवाद प्राप्त करना पड़ता है। अतः वह लोक को किताबों के माध्यम से नहीं, प्रत्यक्ष देखता-समझता है। किन्तु यह भी सही है कि 'लोक' को प्रत्यक्ष देखने-समझने के बावजूद उसको लोकतंत्र का सही बोध प्रायः इसलिए नहीं हो पाता कि वह अपनी आँखों पर स्वार्थ की कोई मोटी-पतली पट्टी बाँध लेता है और किताबी ज्ञान की भी कुछ आवश्यकता महसूस नही करता। जो कुछ भी हो, यदि संवाददाता केवल निम्नलिखित दो उद्धरणों के संकेतों को हृदयंगम कर लें या कर सकें तो उन्हें अपनी आँखों पर पड़ी पट्टी हटा लेने और कुछ किताबी ज्ञान प्राप्त करने की भी प्रेरणा मिल जायेगी—

1. "आज की एक सबसे बड़ी परिस्थिति जो लोकतंत्र के प्रसार की ओर ले जाती है और उसे कायम रखती है, वह है हमारे समाचारों की रचना।" —लायड जार्ज (मैन्सफील्ड की पुस्तक 'कम्प्लीट जर्नलिस्ट' की भूमिका में)।

2. "दानवीय उद्दाम वासनाओं और अपराधों का प्रदर्शन ही आज 'लोकतंत्रवादी' पत्रों का मुख्य व्यवसाय हो गया है।" —टॉमस अर्ल वेल्वी

'लोक' से अपनी निकटता तथा इन दो उद्धरणों के संकेतों से संवाददाता यह अनुभव कर सकता है कि एच० डब्लू० मैसिघम के शब्दों में यह भले ही अक्षरशः सही हो कि "विशुद्ध रूप में सिर्फ वाणिज्य से ही सम्बन्ध रखने वाले पत्र समाज-विरोधी होते हैं और पत्रकारिता औद्योगिक समाज को ज्यों का त्यों बनाये रखना चाहती है मानो यह चाहती है कि यह

समाज पूँजी के अधीन अधिकाधिक होता जाय'' तो भी लोकतंत्र के लिए यह जरूरी है कि समाज-विरोधी नीति को नियंत्रित किया जाय। वह यह भी अनुभव कर सकता है कि यद्यपि यह कार्य समाचार प्रस्तुत करने-कराने में लगे सभी व्यक्तियों का है; तथापि सबसे ज्यादा दायित्व उसका ही है।

जिन देशों में लोकतंत्र किसी-न-किसी रूप में पहले से चला आ रहा है या द्वितीय महायुद्ध के बाद स्थापित हुआ है, उनमें भी पत्रकारिता के स्वयं में एक व्यवसाय मात्र रह जाने के कारण या वाणिज्य-व्यवसाय से उसका गठबन्धन हो जाने के कारण यदि विज्ञापन-दाताओं और वाणिज्य-व्यवसाय से चिपके राजनीतिज्ञों तथा सरकार के दबाव-प्रभाव से मुक्त रहना सम्भव न हो तो भी संवाददाता संवाद-संग्रह तथा संवाद-प्रेषण में लोकतंत्र के उचित आदर्शों का निर्वाह कर सकता है या कम-से-कम उन आदर्शों और व्यवहार का सामंजस्य स्थापित कर सकता है।

अन्य पत्रकारों की अपेक्षा संवाददाताओं को यह अनुभव अधिक होता है कि सभी राजनीतिज्ञ, खास करके चुनाववादी राजनीतिक व्यक्ति, लोकतंत्र के ही नाम पर लोकतंत्र की कैसी दुर्दशा करते हैं, उसका कैसा दुरुपयोग करते हैं। उनका सबसे बड़ा अनुभव तो यही है कि राजनीतिक व्यक्ति उन्हें मिलाये रहने, पटाये रखने, उनसे अपना प्रचार करवाते रहने और अपनी तिकड़मों में उन्हें सहायक बनाने का कितना और कैसा प्रयास करते हैं। इन अनुभवों से संवाददाता चाहें तो अपने को बना सकते हैं और बिगाड़ भी सकते हैं। यदि आदर्शवाद से उन्हें कुछ प्रेम हुआ और उससे ही अपने व्यक्तित्व का वास्तविक निर्माण होने की बात मन और मस्तिष्क में दृढ़तापूर्वक बैठ गयी, तो वे अपने को बना लेंगे और पतन से बचाये रखेंगे। यदि सम्पर्क से, नेताओं के पीछे-पीछे दौड़ने से ही अपना महत्व बढ़ता दिखलायी दिया, विज्ञापन होता रहा और दूसरे स्वार्थ सधते रहे तो वे अपने को बिगाड़ लेंगे—आदर्शवादी विचारकों तथा प्रबुद्ध पाठकों की दृष्टि में।

लोकतंत्र के प्रति वस्तुतः सजग आदर्शवादी संवाददाता की कोशिश यही होती है कि वह अपने समाचारों को उन राजनीतिक तथा सामाजिक व्यक्तियों, संस्थाओं तथा शक्तियों से बचाये जिनसे समाचार के आदर्श-पक्ष पर प्रहार होने का भय बराबर लगा रहता है। वह इनसे अपने समाचारों को बचाने के लिए उनके दबाव-प्रभाव से स्वयं अपने को बचाने का संकल्प करके बैठेगा। ऐसे ही संवाददाता को यह बोध हो सकता है कि समाचारों के ही माध्यम से—उन्हें सनसनीखेज बनाने, उन पर विचारों का रंग चढ़ाने, उनमें उत्तेजनात्मक तत्त्व लाने आदि से बचते हुए—लोकतंत्र की सेवा कैसे की जा सकती है।

यदि लोकतंत्रवादी पत्रों का ही मुख्य व्यवसाय 'दानवीय उद्दाम वासनाओं तथा अपराधों का प्रदर्शन' हो गया है तो इसी से लोकतंत्रात्मक आदर्शों और लोकतंत्र के स्वरूप और हाल को बहुत-कुछ समझ कर पत्रकारों का भी हाल समझा जा सकता है। इसी प्रकार लोकतंत्र के इतिहास में सामन्ती के विरुद्ध औद्योगिक के विकास के साथ लोकतंत्र का होने की बात समझ में आने पर जब यह बोध भी हो जायगा कि

' उद्योगवाद ने, जिसे पूजीवाद भी कहा जाता है, लोकतत्र का विकास तथा उपयोग अपने ही हित में किया" तब लोकतंत्र के ही विकृत होने और लोकतंत्रवादी पत्रों द्वारा विकृतियो मे योगदान करने की भी बात सही मालूम पड़ने लगेगी। ऐसा मालूम पड़ने पर सी० एल० आर० शास्त्री, मैसिंघम तथा गणेशशंकर विद्यार्थी के निम्नलिखित कथन अपनी गहरी छाप डालने मे समर्थ हो जायेंगे—

1. "बड़े-बड़े व्यवसायियों के सम्पर्क मेंजो चीज आयी, उसका पतन हुआ और पत्रकारिता का भी पतन उसी ने किया।" —सी० एल० आर० शास्त्री

2. "विशुद्ध रूप से सिर्फ वाणिज्य से ही सम्बन्ध रखने वाले पत्र समाजविरोधी होते हैं।" —मैसिंघम

3. "अधिकांश बड़े समाचार-पत्र धनी-मानी लोगों द्वारा संचालित होते हैं।...... धन से ही वे निकलते हैं और धन ही के आधार पर वे चलते हैं।" —गणेशशंकर विद्यार्थी

वाणिज्य तथा धन से पत्रों की घनिष्ठता होने पर पत्रकारों को, जो उन्हीं पत्रो के कर्मचारी या सेवक होते हैं, धन की अभ्यर्थना से कैसे बचाया जा सकता है? इसी अभ्यर्थना से दुखी होकर गणेशशंकर विद्यार्थी ने आगे कहा था—"और बड़ी वेदना के साथ कहना पडता है कि उनमें काम करने वाले बहुत-से पत्रकार भी धन की ही अभ्यर्थना करते हैं।

धन की अभ्यर्थना में और वाणिज्य-व्यवसाय से पत्रों की घनिष्ठता का उपयोग करने मे जितना अवसर संवाददाताओं को मिलता है, उतना अन्य पत्रकारों को नहीं। इसीलिए भ्रष्ट होने की सम्भावना उनके सामने ही ज्यादा होती है। इतना ही नहीं, जिसे 'पीत पत्रकारिता' कहते हैं और जो लोकतंत्र के ही अन्तर्गत वाणिज्य-व्यवसाय की घनिष्ठता से पनपती है, वह भी प्रथमत: कुछ अत्यन्त कुशल तथा दीक्षित संवाददाताओं का ही कृतित्व होती है। अस्तु, अब 'संवाददाता और लोकतंत्र' के ही प्रसंग में 'पीत पत्रकारिता' की भी कुछ चर्चा कर ली जाय।

पीत पत्रकारिता

'पीत पत्रकारिता' (यलो जर्नलिज्म) 'वाणिज्य-व्यवसाय' से सम्बद्ध पत्रकारिता के अनेक विकृत रूपों में से एक है। किन्तु यह विकृत रूप सबको विकृत नहीं दिखलायी देता। जितना ही इसे विकृत बनाया जाता है, उतना ही यह ऊपर से देखने में आकर्षक तथा जनहितैषी लगता है और उतने ही कुशल 'पीले' पत्रकारों (संवाददाताओं तथा कार्यालय मे ही कार्यरत सम्पादकों) की बुद्धि उसमें लगी होती है। ऐसी पीत पत्रकारिता के जाल में पड़ने से कुछ बहुत होशियार पाठक ही बच सकते हैं। 'पीत पत्रकारों' की बुद्धि बड़ी तीव्र होती है, उनका समाचार-बोध भी दुरुस्त ही होता है, किन्तु पहले वाणिज्य-व्यवसाय से सम्बद्ध पत्र-संचालकों की प्रेरणा से ही बुद्धि की इस तीव्रता का और सही संवाद-बोध का दुरुपयोग होने लगता है। विशिष्ट 'पीले संवाददाता' तथा अन्य पीत पत्रकार स्वयं ही सुसमाचारों को रँगने तिल का ताड़ बनाने और कहीं पर्वत से राई बना देने की एक अद्भुद बड़ी कला

मानकर उसमें रस लेने लगते हैं।

चूँकि सही समाचार-बोध से ही सहज समाचारत्व और आरोपित समाचारत्व का भेद जानना सम्भव होता है, इसीलिए आरोपित समाचारत्व के मोह या लोभ में पड़ने का खतरा भी सही समाचार-बोध वालों से ही ज्यादा होता है। सही समाचार-बोध वालों के आरोपित समाचारत्व के मोह या लोभ में पड़ने का अर्थ यह होता है कि वे समाचार को रँगने लगते हैं, उस पर विचारों का रंग चढ़ाने लगते हैं और अपने को ऐसा महत्वपूर्ण बना लेते है कि उनके महत्व को कोई चुनौती नहीं दे सकता। ऐसा सही संवाद-बोध वाला संवाददाता कितना ही महत्वपूर्ण और कुशल क्यों न हो जाय, उसे संवादनिष्ठ तो नहीं ही माना जायगा या नही ही मानना चाहिए। उसको योग्यता का दुरुपयोग करनेवाला और उसकी योग्यता को कपटाचरण कहना अनुचित नहीं होगा।

चूँकि पीत पत्रकारिता 'विचार-स्वतन्त्रता के नाम पर' ही अपने करतब दिखलाती है, अत: इसे लोकतंत्र में ही सम्भव माना जायगा। किसी तानाशाही शासन में यह असम्भव है क्योंकि वहाँ विचार-स्वतंत्रता किसी भी रूप में बर्दाश्त नहीं होती और शासक इतने बुद्धिमान तो होते ही हैं कि वे स्वयं पीत पत्रकारिता के करतब समझ सकें। तानाशाही शासक यदि स्वयं पीत पत्रकारिता को न समझ पाते हों तो उन्हें ऐसे पत्रकार-सलाहकार तो मिल ही जाते हैं जिनके समझाने पर यह समझ में आ जाती है। किन्तु, लोकतंत्र में 'पीत पत्रकारिता' जिन न्यस्त स्वार्थवालों तथा सत्ताधारियों की कृपा से फूलती-फलती है, उनके द्वारा एक नये प्रकार की तानाशाही, जिसे 'लोकतंत्रात्मक तानाशाही' कहा जायेगा, का 'विकास' किये जाने में वह प्रतिदान तथा प्रत्युपकार का परिचय देती है। अभी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि लोकतंत्रात्मक तानाशाही में 'पीत पत्रकारिता वाले जाने' में योगदान कर रहे हैं या अनजाने में।

लोकतंत्रात्मक तानाशाही, जिस प्रकार तानाशाही होते हुए भी तानाशाही नहीं मालूम पड़ती, लोकतंत्रात्मक यानी स्वतंत्रता-पोषक ही मालूम पड़ती है, उसी प्रकार पीत पत्रकारिता और पीत पत्रकार भी लोकप्रिय बने रहते हैं, लोगों को लोकप्रियता के भ्रम में डाले रहते है। संवाददाताओं तथा सम्पादकों की संयुक्त 'कला-कुशलता' से चोटी के पीत पत्र अपने स्थायी पाठकों तक को विस्मरणशील बनाकर या उनकी विस्मरणशीलता का लाभ उठाकर अपना रंग बदलते रहने के बावजूद बराबर एक रंग के मालूम पड़ते हैं और 'लोकप्रिय' बने रहते है। बहुतों को ऐसा लगेगा कि ये बड़े निर्भीक आलोचक हैं—सरकार को, उच्चपदस्थ व्यक्तियो तथा पैसेवालों को भी नहीं छोड़ते। किन्तु वस्तुत: वे उनके आलोचक होते नहीं, क्योंकि कुछ दिनों बाद ऐसा होता है कि जिनकी आलोचना करते हैं, उन्हीं के रक्षक हो जाते हैं। इस प्रकार आलोचना जिनकी होती है, उनका कुछ बिगड़ता नहीं और उधर पत्र के प्रति जनता का विश्वास बना रहता है। यही है 'मास्टर एलो जर्नलिज्म'।

सत्ता यानी सरकार' की या निन्दा का इनका तरीका यह होता है कि सत्ता के एकाधिक सर्वप्रमुख व्यक्तियों तथा उनके दो-एक व्यक्तियों

को निन्दा-आलोचना से मुक्त रखते हैं और फिर सरकार की आलोचना इस ढंग से करते है, मानो वे आम जनता के दुःख-दर्द का प्रतिनिधित्व करने में सबसे आगे हैं। इसी प्रकार कुछ उच्चपदस्थ तथा धनी-मानी व्यक्तियों के सेवक बनकर कुछ दूसरे उच्चपदस्थ तथा धनी-मानी व्यक्तियों के आलोचक होने का प्रदर्शन करते हैं। कुछ दिनों बाद उन्हीं व्यक्तियों के प्रति बड़ी खूबी से अपना रुख बदल देते हैं जिनकी पहले आलोचना-निन्दा कर चुके होते हैं।

जहाँ वाणिज्य-व्यवसाय जितना अधिक है और संयोग से लोकतंत्रात्मक कही जाने वाली व्यवस्था भी दृढ़तर मालूम पड़ती है, वहाँ पीत पत्रकारिता भी उतनी ही अधिक है। 'पीत पत्रकारिता' या 'पीत पत्रकारिता से ही मिलती-जुलती पत्रकारिता' में अमेरिका सबसे आगे दिखलायी देता है। वहाँ संवाद-बोध इतना विकृत हो रहा है कि उसमें संवाददाताओं द्वारा आदर्श और व्यवहार का सामंजस्य घटता जा रहा है।

'अमेरिकन न्यूजपेपर्स' के लेखक जेम्स एडवर्ड राजर्स ने लिखा है—"इस विषय का मेरा अध्ययन मुझे जिस निष्कर्ष पर ले आया है, वह यही है कि अमेरिकी पत्रों की प्रकृति तत्वतः सनसनी पैदा करने वाली और व्यावसायिक है। मानवीय विचारों के सांस्कृतिक पहलुओं को तो गौण स्थान दिया जाता है; परिणामस्वरूप समाज की नैतिकता पर जो प्रभाव पड़ता है वह सनसनी के प्रति अनुराग और विशुद्ध भौतिक पदार्थों के प्रति दिलचस्पी की दिशा में ले जाता है।"

राजर्स ने अपनी पुस्तक में तत्कालीन सुप्रसिद्ध लेखक चार्ल्स ह्विवले, फ्रैंक मूंजे तथा जान ए० स्लीचर के जो कथन उद्धृत किये हैं, उनसे भी विकृति का ही चित्र मिलता है। ह्विवले ने यहाँ तक कहा है कि "न्यूयार्क से प्रशान्त तक पढ़े जाने वाले समाचारपत्रों से कोई सभ्य देश सन्तुष्ट नहीं है।" मूंजे ने अपने समय में कहा था—"पन्द्रह वर्षों में किसी नयी बात का पता नहीं, लगा है। इन पन्द्रह वर्षों में हम नकल की नकल करते आ रहे हैं। आप जो कुछ कह सकते हैं वह यही कि कुछ तो बहुत बुरे हैं।"

उसी पुस्तक की भूमिका में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी विकृति की ही बात कही है—"सच्ची बात को दबा देने के कार्य से लेकर झूठी बातों का सुझाव देने के काम तक जितने प्रकार के झूठ मनुष्य जानता है, वे सब अमेरिकी पत्रों में अभिव्यक्त होते दिखलायी देते हैं। ऐसा निरन्तर हो रहा है—आदतन और 'व्यावसायिक व्यवहार' के रूप में।"

अमेरिकी पत्रकारिता में बढ़ते संकट ने इधर अनेक पत्रकारों को पुस्तकें लिखने के लिए बाध्य कर दिया है। यह सही है कि इन्हें प्रकाशित करने वाले उसी व्यवसायी-वर्ग के कुछ लोग हैं जिनका संरक्षण पत्रकारिता से हो रहा है। ये कुछ लोग या तो उदार माने जा सकते है या उनके सम्बन्ध में यह कहा जायेगा कि चूँकि ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन से वाणिज्य-व्यवसाय-पोषक पत्रों के विरुद्ध जनता के भड़क उठने का कोई डर नहीं है या पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार प्रसार तथा प्रभाव की तुलना में ऐसी पुस्तकों का प्रचार प्रसार तथा प्रभाव बहुत कम है, इसीलिए वे इन्हें प्रकाशित कर देते हैं।

काश, अमेरिकी जनता अपने देश की उस स्वस्थ पत्रकारिता का स्मरण करती जो उसके स्वतंत्रता-संग्राम के समय विकसित होकर बाद में दशकों तक जारी रही और जिसने अन्य देशों के भी स्वतंत्रता-संग्राम का समर्थन किया ! यहीं उसे इस चेतावनी पर भी गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि विकृत पत्रकारिता वहाँ शेष रह गये लोकतंत्र को इस हद तक क्षीण कर देगी कि वहाँ भी अराजकता फैल जायेगी और जिस वाणिज्य-व्यवसाय के लिए पत्रकारिता भ्रष्ट की जा रही है, वही लड़खड़ा जायेगा.........।

यह सौभाग्य की बात है कि 'पीत पत्रकारिता की जो पात्रता' अमेरिका में हो गयी है, वह हमारे देश में और ऐसे ही दूसरे देशों में नहीं आयी है और तब तक नहीं आ सकती जब तक यहाँ की भी समाज-रचना पूर्णतः वाणिज्य-व्यवसाय पर आधृत नहीं हो जाती । दूसरी सौभाग्य की बात यह है कि इन अन्य देशों में 'पीत पत्रकारिता' को चलाने के लिए न तो उतना धन खर्च किया जा सकता है, न उससे उतना धन कमाया जा सकता है जितना अमेरिकी पत्र खर्च करते हैं और कमाते हैं।

हमारे देश में कम-से-कम सौ ऐसे पत्र मिल जायँगे जो पीत पत्रकारिता का प्रयोग कर सकते हैं। किन्तु, अमेरिका में जो 'पात्रता' है, वह यहाँ न होने के कारण तथा कुछ और कारणों से वे ऐसा नहीं कर पा रहे हैं। वैसे छोटा-मोटा प्रयोग तो होता ही रहता है। दैनिक पत्रों में तो चलाना बहुत कठिन है। एकाधिक (इने-गिने) साप्ताहिक पत्र इसे कुछ सफलता-पूर्वक चला रहे हैं। कुछ छोटे पत्र इसे चलाने की कोशिश करते हैं, किन्तु विफल रह जाते हैं, क्योंकि वे न तो 'पीत पत्रकारिता' का अर्थ ठीक से जानते हैं और न साधन जुटा सकते हैं।

लोकतंत्र तथा पीत पत्रकारिता से भी 'संवाद-बोध' का सम्बन्ध इस प्रकार जोड़ने का जो प्रयास किया गया है, वह बेमेल या निष्प्रयोजन नहीं कहा जायगा, क्योंकि इससे संवाददाता सम्बन्धी दृष्टिकोण में व्यापकता आना सर्वथा सम्भव है। लोकतंत्र के ज्ञान तथा उसमें आस्था-से और इस ज्ञान तथा आस्था के फलस्वरूप पीत पत्रकारिता से घृणा के प्रति ऐसी अपेक्षित बौद्धिक दृढ़ता आती है जो संवाद-बोध को लोकतंत्र के पथ पर ही रखने के लिए विकृत या कुंठित होने या अपने ही स्वार्थ में लगाने से बचाती है। अतः लोकतंत्र तथा पीत पत्रकारिता का यह विवेचन बहुत प्रासंगिक है। लोकतंत्र जैसा भी हो या हो रहा हो, उसका उदय और विकास भले ही औद्योगिक व्यवस्था के साथ उसके ही हित में हुआ हो और आज उसकी ओट में चाहे जो दुष्कर्म हो रहे हों, यदि उसमें कोई लोकोपकारी तत्व भी है और यदि सच्चे लोक-तंत्रवादी पत्रकारों की सूझ के अनुसार उसका उपयोग जनहित में करना अभी भी सम्भव है तो निश्चय ही यह विवेचन संवाददाताओं के बहुत काम का होगा।

साक्षात्कार या भेंट-वार्ता

समाचार-पत्रों में 'साक्षात्कार या भेंट-वार्ता' ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। इस विशिष्टता के कारण साक्षात्कार करने वाला संवाददाता महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके लिए विशिष्ट योग्यता ही नहीं, प्रतिभा की भी आवश्यकता होती है। यहाँ साक्षात्कार करने वाले के सम्बन्ध में प्रतिभा का भी उल्लेख विशेष प्रयोजन से किया गया है। साधारणतः विशिष्ट योग्यता के अन्तर्गत ही प्रतिभा आ गयी मान ली गयी है। किन्तु, यह एक अलग अस्तित्व तथा अर्थ रखती है। 'विशिष्ट योग्यता तथा प्रतिभा' का अन्तर साहित्य में बहुत चर्चित हुआ है और मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इसे अपना एक अलग विषय माना है।

यह बात अब लगभग निर्णीत या निर्विवाद हो चुकी है कि प्रतिभा सहज होती है, यानी सन्तान में माँ के दूध के साथ ही आती है, जबकि योग्यता सहज भी हो सकती है और श्रमसाध्य या प्रयत्नसाध्य भी। जन्म से ही विशिष्ट व्यक्ति बनने के जो लक्षण दिखलायी दें वे ही प्रतिभा हैं। हाँ, यह बात जरूर है कि प्रतिभा को सुव्यक्त होने के लिए कोई वातावरण होना चाहिए, अन्यथा वह कुण्ठित हो जा सकती है। वातावरण मिलने पर विकसित प्रतिभा किसी को तत्क्षण सहज ही प्रभावित कर लेती है। विशिष्ट योग्यता भी ऐसा करती है। विशिष्ट पुरुषों के सान्निध्य तथा प्रभाव से तथा अपने श्रम तथा प्रयत्न से अर्जित या रचित योग्यता इस प्रकार विशिष्ट हो जाने पर किसी माने में, किसी हद तक, प्रतिभा-सी लगने लगती है, किन्तु वह प्रतिभा नहीं होती, क्योंकि वह जन्म के बहुत बाद प्राप्त होती है। इसे अर्जित प्रतिभा कह सकते हैं।

चूँकि साक्षात्कार करने वाले का पहला काम प्रभावित करना ही होता है, अतः उसके सम्बन्ध में प्रतिभा की यह संक्षिप्त चर्चा निष्प्रयोजन नहीं कही जायगी। साक्षात्कार करने वाले की प्रतिभा ही उसके आभ्यन्तरिक व्यक्तित्व की छाप किसी के मस्तिष्क पर डालती है, व्यक्तित्व से प्रभावित करती है। यहाँ साक्षात्कार तथा साक्षात्कारकर्ता के ही प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि 'यों तो प्रतिभा प्रायः एक ही दिशा में अपना रंग दिखलाती है, किन्तु वह बहुमुखी भी हो सकती है।' साक्षात्कारकर्ता की समाचार-प्रतिभा समाचार-जगत् तक ही सीमित रहने—यानी एक ही दिशा में लगे होने—पर भी अपना काम कर ही लेती है, किन्तु यदि वह बहुमुखी हो जाय तो और अच्छा है। यह सही है कि एक ही दिशा में अपनी प्रतिभा का परिचय देने वाले व्यक्ति के लिए बहुमुखी प्रतिभा वाला हो जाना कठिन नहीं है, किन्तु इसके लिए कुछ बाह्य प्रभाव तथा प्रयत्न अपेक्षित हो जाते हैं।

प्रतिभावान् व्यक्ति के सामने, बहुतों की उच्च शिक्षा तथा विद्वत्ता भी गौण हो जाती है। किन्तु, जहाँ तक [illegible] का सम्बन्ध है उसके लिए प्रतिभा के साथ विद्वत्ता [illegible]

तो उच्च शिक्षा जरूर होनी चाहिए। प्रतिभा का समुचित उपयोग हो सके—इसके लिए कोई बाह्य प्रयत्न, अवसर तथा परिस्थिति की भी बात उन-संवाददाताओं के बारे में सोचनी होगी जिन्हें उच्चतर साक्षात्कार के लिए भी तैयार करना हो।

साक्षात्कारकर्ता की प्रतिभा तथा तज्जन्य महत्ता का परिचय केवल उस व्यक्ति को नहीं मिलना चाहिए जिससे उसका साक्षात्कार होता है। साक्षात्कार के बाद पाठकों को भी मिलना चाहिए। किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति से महत्वपूर्ण साक्षात्कार आखीरकार पाठकों के लिए ही तो होता है। ऐसा भी देखने में आता है कि जिस व्यक्ति से साक्षात्कार किया जाता है, उसके सामने तो वह बहुत ही अच्छा हो जाता है; किन्तु जब पत्र में प्रकाशित होता है तो वह उतना अच्छा नहीं रह जाता। इसका एक कारण यह हो सकता है कि साक्षात्कारकर्ता लेखन-कला—लिखकर प्रस्तुत करने की कला—में भी उतना ही निपुण नहीं होता जितना साक्षात्कार करने में। दूसरा कारण यह हो सकता है कि साक्षात्कारकर्ता द्वारा लिपिबद्ध मैटर आगे और सम्पादनार्थ जिस सम्पादक के हाथ में पड़ता है, उसकी पकड़ में कोई त्रुटि हो।

यहाँ जिस विशेष योग्यता तथा प्रतिभा की चर्चा की जा रही है, वह कभी भी किसी भी व्यक्ति के साथ साक्षात्कार के लिए नहीं होती। वह तो खास-खास अवसरों पर खास-खास राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों से साक्षात्कार के लिए होती है। ऐसे साक्षात्कार का सर्व-प्रथम उद्देश्य यह होता है कि जिस व्यक्ति से बात की जा रही है, उसी के मुंह से उसके मन का भेद प्रकट करवा लिया जाय, यानी उसके उत्तरों से उसके हृदय की थाह लगा ली जाय। कितना बड़ा और कितना कठिन है यह काम! कुशल साक्षात्कारकर्ता जिससे साक्षात्कार करता है, उसे इस प्रकार 'आउटविट' कर देता है (उसकी बुद्धि को मात दे देता है) कि उसे तत्काल पता ही नहीं लगता। उसे पता तब लगता है जब साक्षात्कार पत्र में प्रकाशित हो जाता है।

भेंट-वार्ता के पूर्व

जिस व्यक्ति से साक्षात्कार करना होता है, उसे पहले इसके लिए राजी करना पडता है, फिर समय और स्थान निश्चित होता है। वार्ता के लिए कितना समय दिया जा सकता है—इसका भी पत्र-प्रतिनिधि ध्यान रखता है। पत्र-प्रतिनिधि को अपनी भेंट-वार्ता का विषय तथा उद्देश्य भी पहले ही बता देना चाहिए। 'चाहिए' की बात अब नहीं रही, बताना ही पड़ता है। इससे जिस व्यक्ति से साक्षात्कार किया जाता है, वह भी पहले से अपने उत्तर की तैयारी कर लेता है। वैसे कुछ विषयान्तर हो ही जाता है और इसके लिए दोनों पक्षों से कुछ छूट रहती भी है या रहनी ही चाहिए। किन्तु बाघ साक्षात्कार-प्रदाता प्रायः विषयान्तर पसन्द नहीं करते और विषयान्तर होने भी नहीं देते।

यह साक्षात्कारकर्ता की कुशलता पर निर्भर करता है कि वह पहले बताये हुए उद्देश्य से कुछ हटकर भी एकाधिक और बातें पूछ ले। ये अधिक बातें उसकी नोटबुक में नोट रहनी चाहिए। एक बात याद रखनी होगी कि इन बातों में ज्यादा न उलझा जाय, क्योंकि इससे मुख्य विषय में कटौती हो जा सकती है

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि जिस विषय पर साक्षात्कार करना है, उस विषय के विशेषज्ञ को ही और पूरी तैयारी के साथ भेजना चाहिए। विषय पर अधिकार के बावजूद तात्कालिक सामयिक समस्याओं को ध्यान में रखते हुए कुछ और भी तैयारी करनी ही पड़ती है। अपने दिमाग में वह जो पृष्ठभूमि रखकर निकलता है, उसमें 'साक्षात्कारदाता' के कुछ महत्वपूर्ण पिछले वक्तव्यों की खास-खास बातें जरूर हों। दिमाग में जितना रख सके, उतने के अलावा बाकी सब कुछ (प्रश्न तथा विचार) नोटबुक में लिख रखे। उसके विचार तथा प्रश्न स्पष्ट तो हों ही, साथ ही उनसे उसकी विशिष्टता का परिचय भी जरूर मिलना चाहिए।

जहाँ तक विशिष्ट राजनीतिक व्यक्तियों या राजनीतिज्ञों से मुलाकात या भेंट-वार्ता का सम्बन्ध है, साक्षात्कारकर्ता से यह अपेक्षा की जाती है या की जानी चाहिए कि वह 'अर्थशास्त्र और राजनीति' तथा 'राजनीति और सैन्यविज्ञान' के विशेष संबंधों पर निष्कर्ष रूप मे निकाली गयी सैद्धान्तिक उक्तियों को बराबर याद रखे—'अर्थशास्त्र ही राजनीति की नींव है' 'राजनीति अर्थनीति की ही व्यावहारिक अभिव्यक्ति है', 'युद्ध राजनीति का और राजनीति युद्ध का विस्तार है'। यदि कोई राजनेता या राजनीतिज्ञ अर्थशास्त्री हो या सेनाधिकारी रह चुका हो तो अर्थशास्त्र तथा सैन्यविज्ञान में मात्र चंचुप्रवेश वाला 'साक्षात्कारकर्ता न भेजा जाय। उसके साथ यदि इन विषयों का विशेषज्ञ भेजना संभव हो—साक्षात्कार-प्रदाता की अनुमति से—तो उसे भी भेज दिया जाय। किसी विदेशी बड़े नेता से साक्षात्कार करने वाले से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अच्छा ज्ञान होने की अपेक्षा की जाती है। किसी ने ऐसे साक्षात्कारकर्ता को 'अपने पत्र का परराष्ट्रमंत्री' कहा है। इन सब बातों को ध्यान में रखने वाला पत्र-प्रतिनिधि अपना एक अच्छा नोट तैयार करके ही निकलता है—यह नोट दिमाग में हों या नोटबुक में।

किसी बड़े आदमी से भेंट-वार्ता के पहले अपने मन से, कोई आत्मलाघव हो तो उसे निकाल देना चाहिए और आत्मविश्वास तथा आत्मगुरुत्व की भावना के साथ निकलना चाहिए। वैसे जब किसी विशिष्ट व्यक्ति से भेंट-वार्ता के लिए कोई प्रतिभा-योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति जाता है तो उसमें आत्मविश्वास तथा आत्मगुरुत्व होने की बात में कोई सन्देह नहीं होता या नहीं होना चाहिए, तथापि चूंकि उच्च पद का प्रभाव कुछ ऐसा हो जाता है कि कभी-कभी ऐसे साक्षात्कारकर्ता में भी कुछ आत्मलाघव आ जाता है या आ सकता है, अत इस आशंका पर भी विजय प्राप्त करके निकलना पड़ेगा।

जिस विशिष्ट व्यक्ति से साक्षात्कार होता है, वह यदि साक्षात्कारकर्ता की निपुणता तथा अपनी चूक को बहुत दिनों तक याद रखे, तो यह साक्षात्कारकर्ता की विशेष सफलता और उसके पत्र की विशेष प्रतिष्ठा की बात होगी। अतः पत्र-सम्पादक ऐसे ही व्यक्ति को भेजने की कोशिश करे और बावजूद इसके कि उसका प्रतिनिधि तो स्वयं ही निपुण हो, उसे अपनी ओर से भी कुछ निर्देश दे दे और उसके साथ विचार-विमर्श कर ले।

—विशेष प्रति   अपनी वेशभूषा का भी ध्यान रखना पड़ता

देती हो। उसकी अपनी एक अदा भी होनी चाहिए। और इसी अदा के साथ साक्षात्कारोन्मुख व्यक्ति के कक्ष में प्रवेश करने पर वह अपनी पहली छाप डालेगा। उसकी यह अदा उसकी अपनी आदत भी बन गयी हो सकती है और एक क्षणिक नाटकीयता का अभिनय भी। प्रवेश करते समय उसका प्रसन्नवदन होना भी आवश्यक बतलाया गया है। यदि इस प्रसन्नता के साथ गम्भीरता भी मिलायी जा सके तो और अच्छा होगा।

निपुणता और नाटकीयता कैसी ?

निपुणता अपने विषय की पूरी होनी ही चाहिए; उसके साथ ही उस विषय को रखने, बातें करने और तत्काल प्रश्न करने में निपुणता होनी होनी चाहिए। इस निपुणता में नाटकीयता भी मिली रहे तो और अच्छा है। उसकी नाटकीयता या अभिनय यह मालूम नही होने देते कि सचमुच यह कोई अभिनय या नाटक है। नाटकीयता ऐसी न हो कि उसकी गम्भीरता गायब हो जाय और वह हलका आदमी लगे। गम्भीरता तथा नाटकीयता के साथ नीतिज्ञता का भी परिचय जरूरी है।

भेंटकर्ता को 'चाटुकार' भी होना पड़ सकता है या कम-से-कम चाटुकारिता का प्रदर्शन करना पड़ सकता है। भेंटकर्ता स्वभाव से 'हाँ में हाँ' मिलाने, चाटुकारिता करने वाला न हो तो भी उसे इसका प्रदर्शन करने के लिए अपने मन को तैयार कर लेना पड़ता है। कुछ सहज और कुछ चाटुकारिता-मिश्रित शिष्टता भी जरूरी होती है। प्रायः मुलाकात होते ही सबसे पहले भेंटकर्ता इस तरह की कोई बात करता है—"मैं पहले से ही कुछ क्षमा-याचना कर लेना चाहता हूँ। हमारा यह पेशा ही कुछ ऐसा है कि कभी-कभी कुछ नाराज कर देने वाली बातें भी कहनी या पूछनी पड़ जाती हैं या मुँह से निकल आती हैं। यदि ऐसा कुछ हो जाय तो क्षमा कीजियेगा।" उसके कुछ अन्तिम वाक्य इस तरह के होते हैं—मुझे आपका दर्शन करके, आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। क्या मैं आपको फिर कभी कष्ट दे सकता हूँ? बीच में वह कुछ ऐसे भी प्रश्न करता चलता है—शिष्टता तथा नाटकीयता के साथ क्या आपने किसी दूसरे साक्षात्कारकर्ता को भी इस विषय पर अपना कोई विचार बतलाया है? आप किस आधार पर अपने इन विचारों को व्यक्त कर रहे हैं? इस विषय-विशेष से क्या मैं आपको कोई कष्ट तो नहीं दूँगा? [यह प्रश्न प्रायः तब पूछा जाता है जब वह विषय-विशेष साक्षात्कार-प्रदाता का अपना खास विषय नहीं होता और उसे कुछ कठिनाई भी हो सकती है।]

भेंटकर्ता इस ढंग से बातचीत करता है कि जिस व्यक्ति से बातचीत होती है, उसका जी नहीं ऊबता। यदि साक्षात्कार-प्रदाता का जी ऊबता दिखलायी दे तो भेंटकर्ता को तुरन्त रोचकता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वह यह भी नहीं करता तो यह उसकी एक बड़ी कमी मानी जायगी। बड़े आदमियों में कुछ ऐसे होशियार और साथ ही अड़ियल टट्टू होते हैं कि उन्हें उनके प्वाइंट से हटाकर अपने प्वाइंट पर लाना नहीं होता किन्तु भेंटकर्ता अपनी निपुणता से उन्हें भी सर कर लेता है और उनका मनोभाव बदल देता है जो व्यक्ति

निपटना कठिन होता है; किन्तु यदि साक्षात्कारकर्ता ऐसे लोगों के स्वभाव, उनकी पसन्द तथा कुछ कमजोरियों की जानकारी पहले से प्राप्त करके और कुछ सोचकर, यानी कुछ उपाय निकाल कर जाता है, तो वह इस कठिनाई पर भी विजय प्राप्त कर लेता है।

साक्षात्कारकर्ता में संकोच या झेप नहीं होनी चाहिए। यदि वह संकोची या झेंपू हुआ तो उसके अन्य गुण और पहले से की गयी तैयारी तथा एकत्र कर ली गयी जानकारी व्यर्थ हो जायगी या हो सकती है। इसके परिणामस्वरूप समाचार-कथातत्व ऐसा नीरस या साधारण हो जायेगा कि पाठक उसमें कोई अतिरिक्त रुचि ही न ले। प्रकाशित भेंटवार्ता मे पाठकों की अतिरिक्त रुचि ही उसकी विशेष सफलता होती है। यदि संकोची न होने के बावजूद कहीं से कोई संकोच घर कर गया हो तो साक्षात्कार के लिए निकलने के पूर्व उसे झटक देना चाहिए।

पत्र-प्रतिनिधि जिनसे साक्षात्कार करता है, उनमें से कुछ बहुत ज्यादा बातें करते है, अपनी ही सुनाने के फेर में रहते हैं, वार्ताकार को अधिक बोलने और प्रश्न करने का मौका ही नही देते। कुछ दूसरी तरह के लोग होते हैं जो बहुत कम बातें करते हैं। ज्यादा बातें करने के लिए बाध्य करना साक्षात्कारकर्ता की अपनी कला होती है। अधिक बातें करने वाले हों या कम बातें करने वाले, वे जो कुछ कहें, उसे ध्यानपूर्वक सुन कर कोई पते की बात साक्षात्कारकर्ता निकाल लेता है और तुरन्त नोट कर लेता है।

विशेष प्रतिनिधि (साक्षात्कारकर्ता) को हर पते की बात तुरन्त नोट कर लेनी चाहिए, स्मरणशक्ति पर बहुत ज्यादा विश्वास करके उसी पर नहीं छोड़ देना चाहिए। नोट करने में यह ध्यान रखना होगा कि विषय से भटकाव वाले अनावश्यक मोहक शब्द न भर जायँ, अन्यथा कार्यालय में पहुँचने पर सारी बातें ऐसी उलझी रहेंगी कि या तो उन्हें सुलझाने मे फिर से समय लगाना पड़ेगा, या मुख्य बातें छूट जायेंगी या गौण हो जायेंगी। जो बात 'ऑफ द रेकार्ड' हो, उसे भी नोट तो कर ही लेना चाहिए और उसे रेखांकित करके बगल में 'ऑफ द रेकार्ड' लिखना नहीं भूलना चाहिए। जिस व्यक्ति से भेंट की जाती है, वह कुछ ऐसी बातें भी कह जाता है जिन्हें वह कहना ही नहीं चाहता था, किन्तु मुँह से निकल जाती हैं। इनके बारे में वह तुरन्त बोल देता है : 'ऑफ द रेकार्ड'। वार्ताकार को इसका ध्यान रखना पड़ता है कि वह प्रकाशित न हो जाय। वह उसे नोट केवल इसलिए कर लेता है कि भविष्य में उसका उपयोग किसी तरह कर ले।

कुशल भेंटकर्त्ता प्राप्त उत्तर से ही कुछ नये सूत्र निकालता है, आगे बढ़ता है और अपनी समाचार-कथा या वृत्तलेख में उन्हीं सूत्रों के आधार पर नये वर्तमान तथ्य उद्घाटित करता है और साथ ही भविष्य की किसी महत्वपूर्ण घटना का संकेत कर देता है। जिस विषय या प्रकरण पर साक्षात्कार किया जाता है, उसका अधिकारी समझकर ही किसी व्यक्ति से साक्षात्कार करने पर विषय सुन्दर और महत्वपूर्ण बनता है अन्यथा कोई नयी बात नहीं निकलती या उक्त विषय पर अपेक्षित प्रकाश नहीं पड़ता।

कर उसे 'समाचार-विशेष' के रूप मे प्रस्तुत करने के अलावा 'वृत्तलेख' के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता है या वृत्तलेख का-सा रूप दिया जा सकता है। वैसे, आमतौर पर साक्षात्कार समाचार-विशेष के रूप में प्रकाशित किये जाते हैं।

यहीं यह बात भी बता देना आवश्यक है कि हर हालत में साक्षात्कार-प्रदाता पर यह प्रभाव डाल देना होगा कि वार्ता का प्रकाशन पूरी जिम्मेदारी के साथ किया जायगा और साक्षात्कारकर्ता तथा साक्षात्कार-प्रदाता की पहुँच में कोई अधिक भिन्नता नहीं होगी। जो एक और बात समझ लेना आवश्यक है, वह यह है कि बातचीत में कभी एकाग्रमन सर्जन और कभी जिरह करने वाले वकील की तरह काम करना होगा।

साधारण लोगों से भी

भेंट-वार्ता बहुत बड़े लोगों या सर्वोच्च अधिकारियों से होती हो या होनी चाहिए—ऐसी बात नहीं है। प्रान्तीय उच्चाधिकारी—जैसे, राज्यपाल और मुख्यमंत्री, स्थानीय प्रशासनाधिकारी—जैसे जिलाधीश, महापालिका-प्रशासक, नगर-प्रमुख तथा अन्य विभागीय अधिकारियों से भी भेंट-वार्ता हो सकती है। किन्तु, इन सबसे साक्षात्कार के लिए साक्षात्कारकर्ता का उतना ही विशिष्ट होना जरूरी नहीं है जितना बहुत बड़े लोगों या सर्वोच्च अधिकारियों से साक्षात्कार करने वालों को दिखाया गया है।

जिन पत्रों का स्वरूप कुछ अखिलदेशीय हो गया है और किसी माने में या किसी हद तक अन्तर्राष्ट्रीय भी है, वे ही प्रायः राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्तियों की भेंट-वार्ता प्रकाशित कर पाते हैं। कुछ प्रान्तीय पत्रों में भी यदा-कदा वह छप जाती है। उन पत्रों में जिला या मण्डल स्तर के अधिकारियों से हुई भेंटवार्ता नहीं प्रकाशित होती या बहुत कम प्रकाशित होती हैं। इन अधिकारियों से भेंटवार्ता या साक्षात्कार को या तो ये साक्षात्कार मानते ही नहीं या अपने स्तर के योग्य नहीं समझते। वस्तुतः साक्षात्कार का जो महत्व तथा अर्थ होता है, उनके अनुसार तो वे छोटे पत्रों में प्रकाशित भी नहीं हो पाते, मानो बड़े पत्रों के लिए सुरक्षित रहते हैं।

छोटे पत्रों—खास करके जिला या मण्डल स्तर के पत्रों—में अखिल देशीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के व्यक्तियों से भेंट-वार्ता प्रथमतः इसलिए प्रकाशित नहीं हो पाती कि उनकी उन व्यक्तियों तक पहुँच नहीं होती या उनमें अपना साक्षात्कार प्रकाशित होना ये बड़े लोग 'छोटी बात' मानते हैं। दूसरा कारण यह है कि उनकी आर्थिक दुर्बलता ऐसी होती है कि वे ऐसे रख ही नहीं पाते जो बड़े पत्रों के की ब[illegible] कर सकें।

अखिलदेशीय या अखिलप्रान्तीय स्तर तक पहुँचे लोगों से कम होती है। वस्तुतः बात यह है कि वे साक्षात्कारकर्ता-संवाददाताओं से बहुत सावधान रहते हैं क्योंकि उन्हें यह डर लगा रहता है कि उनके मुँह से कहीं ऐसी बात न निकल जाये जो बहुत ज्यादा राजनीतिक हो और सरकार—केन्द्रीय तथा प्रान्तीय—की नीति अथवा गोपनीयता के विरुद्ध हो। यदि ऐसी बात मुँह से निकल गयी और संवाददाता या पत्र-प्रतिनिधि ने उसे उसी रूप में या कुछ नमक-मिर्च लगाकर अपने पत्र में प्रकाशित करा लिया तो उन पर मुसीबत आ सकती है या आ ही जायेगी।

भेंट-वार्ता अखिलदेशीय, प्रान्तीय, मण्डलीय और जिले के स्तर के ही नेताओं, राजनीतिज्ञों तथा अधिकारियों तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए। यदि जनसाधारण के बीच से भी कुछ उद्घाटित करते रहना है तो छोटे-से-छोटे व्यक्ति से भी मुलाकात करनी होगी, उससे पूछताछ करते रहना होगा। यदि वह स्वयं अपने कानों से सुनी हुई नहीं, सुनी-सुनाई बात ही कहे तो उस पर भी गौर करना चाहिए, क्योंकि कभी-कभी उससे भी बड़े समाचार का सुराग मिल जाता है या किसी समय वह अपने में ही एक बड़ा समाचार बन जा सकती है।

यदि साक्षात्कार बहुत बड़ी चीज मानी जाती है और इसके लिए बड़े संवाददाताओं में ही पात्रता देखी जाती हो, तो भी नीचे स्तर के—जिला-स्तर तक के—संवाददाताओं को साक्षात्कार के ज्ञान तथा अनुभव से वंचित नहीं रखना चाहिए। स्वयं संवाददाता यह समझ ले तो अच्छा होगा कि सामान्य समाचार भेजते रहने से ही संतुष्ट हो जाना और साक्षात्कार-जैसे कार्य को अपने लिए न समझना उसके विकास में बाधक सिद्ध होगा। किन्तु, प्रश्न तो यह है कि वह साक्षात्कार के लिए प्रशिक्षण कैसे प्राप्त करे, कहाँ प्राप्त करे और किससे प्राप्त करे? उसे इसका अनुभव प्राप्त करने का अवसर बड़े संवाददाताओं के साथ रहने से ही मिलेगा। यहाँ फिर एक और प्रश्न उठता है कि बड़े संवाददाता का साथ सबको कैसे मिल सकता है?

'छोटे' समझे गये संवाददाताओं के बारे में प्रतिभा सम्बन्धी विचारों को ध्यान में रखने पर यह बात कही जा सकती है कि यदि 'वह सहज है, श्रमसाध्य तथा प्रयत्नसाध्य नहीं है और उसको अनिवार्यतः उच्च शिक्षा से जोड़ना जरूरी नहीं है' तो क्यों न यह स्वीकार किया जाय कि 'छोटे' संवाददाताओं में से अनेक में 'साक्षात्कारी प्रतिभा' मिलेगी। इस प्रतिभा की खोज जरूर होनी चाहिए।

अन्त में, यह जान लेना जरूरी है कि साक्षात्कार की प्रणाली पहले-पहल 1859 में 'न्यूयार्क हेराल्ड' से प्रचलित हुई। यूरोप में यह उसी के अनुकरण के रूप में आयी। भारत में तो इसका विकास बहुत बाद में हुआ

होगा। संवाददाता की गम्भीरता भी कुछ ऐसी होनी चाहिए कि वह अपने ही लोगों के बीच नीरसता या उदासी का परिचय न दे।

संवाद-संग्रह में लगे व्यक्ति के लिए यह स्पष्ट आदेश है कि उसमें—उसके स्वभाव तथा संवाद-संग्रह में—शत्रु-मित्र के भेद-जैसी बात नहीं होनी चाहिए। इस आदेश के अन्तर्गत यह बात भी आती है कि संवाददाता को अधिक-से-अधिक मित्र बनाना चाहिए। किसी से शत्रुता मोल नहीं लेनी चाहिए और यदि अपने प्रति किसी का शत्रु-भाव है तो उसे मित्र नहीं तो अनुकूल व्यक्ति बना लेने की कोशिश करनी चाहिए। यह एक बहुत बड़ी साधना और साथ ही कला है जो किसी को भी नाराज किये बिना संवाद निकाल लेने तथा प्रस्तुत कर देने की साधना या कला है और इसलिए आवश्यक है।

सत-साधना

यह आदेश तो सन्त बन जाने का कहा जायगा। इस आदेश के अनुसार की जाने वाली साधना या किया जाने वाला अभ्यास सचमुच सन्त-साधना या सन्त-अभ्यास है। समता या समभाव के अभ्यास में ही लगे हैं, जिन्होंने समभावी हृदय बना लिया है, जि इनसे-उनसे बराबर सम्पर्क रखने की न कोई इच्छा है न आवश्यकता और जो पूर्ण सहिष्णु हो गये हैं—ऐसे संसार से निर्लिप्त सन्तों या महात्माओं, आध्यात्मिक पुरुषों के विपरीत संवाददाता एक भौतिक प्राणी होता है और एक भौतिक कार्य के अंग के रूप में ही उसे लोगों से सम्पर्क करना पड़ता है, अतः यह साधना उसके (संवाददाता के) लिए उतनी ही कठिन होती है जितनी उन सब सन्त-पुरुषों के लिए आसान हो गयी रहती है। जो कुछ भी हो, हम इसे 'सन्त-साधना' कह सकते हैं।

जो लोग संवाददाता को शत्रु या शत्रु-सा मान बैठते हैं, सन्देह की दृष्टि से देखते और भय तथा आतंक का प्रतीक समझते हैं, उनसे भी किस तरह सम्बन्ध बनाये रखा ज और मानापमान की भावना से ऊपर उठकर, अपनी कोई अकड़ हो तो उसे छोड़कर अ अपने को मिलनसार तथा सुशील सिद्ध करते हुए उनका विरोध, सन्देह, भय तथा आ दूर कर देने और अपना काम (व्यक्तिगत नहीं, संवाद प्राप्त करने का) बना लेने की कोशि किस तरह की जाय—ये सब बातें संवाददाता की स्वभाव-साधना के अन्तर्गत आती हैं इन्हें स्वभाव-साधना-प्रसूत संवाद-कला और व्यवहार-कला भी कहा जायगा। इस कला बुद्धि ही नहीं, बुद्धि-कौशल का परिचय देना होगा।

अनेक विश्वविख्यात पत्रकारों ने, जो पहले संवाददाता भी रह चुके थे, अपने विशिष्ट ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर संवाददाता को दयालु, विनम्र, सहृदय, सहिष्णु संवेदनशील, संग्रहक तथा दूरदर्शी होने की सलाह आखिर क्यों दी है? इन गुणों की आवश्यकता तभी तो पड़ती है जब लोगों से मिलना-जुलना, सम्पर्क करना और बातचीत करना हो है। इन गुणों का सम्बन्ध स्वभाव तथा से है यदि ये सब गुण स्वभाव (पहले से ही तब तो ठीक ही है अन्यथा इनका अभ्यास करना होगा एक साधना के

अपनाना होगा। जबकि ये सारे गुण किसी व्यक्ति में एक-साथ नहीं हो सकते, तब किसी संवाददाता में इनके एकसाथ होने की आवश्यकता का स्पष्ट अर्थ यही होता है कि इनको साधा जाय, इनका अभ्यास किया जाय।

यह सलाह कोई संत-वचन नहीं थी, धर्माचार्यों का कोई उपदेश नहीं थी। इसे भौतिकतावादी व्यक्तियों को 'जबर्दस्ती संत बनाने' की कोई अव्यावहारिक बात के रूप में भी नहीं लेना चाहिए। इसे कोरे आदर्शवाद (आदर्शवाद के लिए आदर्शवाद) नहीं, वरन् संवाद-संग्रह की 'व्यवहार-कला' या 'व्यावहारिक कला' के रूप में ग्रहण करना होगा। यह सलाह दी गयी है—प्रत्येक क्षेत्र से सम्पर्क रखने की संवाददाता की एक अनिवार्य आवश्यकता के प्रसंग में ही।

यदि पत्रकार, जे० बी० मेकी के शब्दों में, संवाददाता सचमुच 'गरीब तथा पददलित का मित्र होता है और उसकी सबसे बड़ी चिन्ता यह होती है (या होनी चाहिए) कि अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम हित कैसे हो', तो वह जे० बी० मेकी के ही शब्दों मे, बराबर यह ध्यान रखेगा कि 'धन तथा उच्च पद के प्रति पक्षपात न करे'। किन्तु, यह तभी सम्भव है जब उदारता, करुणा, दयालुता, संवेदनशीलता सहज हो जाय, स्वभाव मे आ जाये।

गरीब देश का संवाददाता

जिस देश के अधिकांश लोग गरीब हों, पीड़ित हों, दीन हों और पद, प्रतिष्ठा तथा पैसे से बड़े हो गये लोगों से डरते रहते हों, दबाये जाते हों, फिर भी कोई आत्मविश्वास उनमें उत्पन्न न होता हो, वे आत्मशक्ति के बोध से वंचित हों और असहाय से पड़े हों, उस देश का भी संवाददाता—खास करके इन्हीं अधिकांश लोगों के बीच रहने वाला संवाददाता—यदि पत्र तथा पत्रकारिता के माध्यम से सर्वसाधारण की सेवा करना अपना कोई कर्तव्य न समझता हो, उलटे धन तथा उच्च पद के प्रति पक्षपात रखता हो तो उससे उदारता, करुणा, दयालुता तथा संवेदनशीलता की आशा करना व्यर्थ है और उसको संवाददाता बनाये रखने पर उस पत्र को पहले धिक्कारना चाहिए जिससे वह सम्बद्ध हो।

हमारे अपने ही देश के अधिकांश पत्र ऐसे हो गये हैं जिन्हें संवाददाता के अच्छे स्वभाव, अच्छे गुणों या अच्छे आचरणों की बात शायद सूझती ही नहीं। इस स्थिति में उनसे सम्बद्ध संवाददातों की स्वभाव-साधना के बारे में क्या कहा जाय? जब गणेश-शंकर विद्यार्थी के शब्दों में "यहाँ भी अब बहुत-से समाचार-पत्र सर्वसाधारण के कल्याण के लिए नहीं रहे, उलटे सर्वसाधारण उनके प्रयोग की वस्तु बनते जा रहे हैं". तब इनके संवाददाता उनके प्रतिकूल अपनी कोई -साधना भला क्या करेंगे क्यों करेंगे? ऐसे पत्रों को धिक्कारने से क्या ये

स्टेपनी के बिशप ने सन् 1923 में कहा था—"दैनिक पत्रों में अधिकांशत: उन लोगों का वर्णन रहता है जिन्होंने जीवन-संग्राम में हथियार डाल दिये हैं। हम उन दस व्यक्तियों के बारे में तो पढ़ते है जो बेईमानी करते मिलते हैं, उन लाखों के बारे में कुछ नहीं सुनते जिन्होने अच्छे काम किये हैं।" इस उद्धरण से संवाददाताओं की ओर भी ध्यान जाता है, क्योंकि दस व्यक्तियों की बात हो या लाखों व्यक्तियों की बात, पहले समाचार उन्हीं के हाथ से जाता है।

प्रश्न सर्वसाधारण के प्रतिनिधित्व का भी तो है। अनेक स्थानों पर अनेक बड़े पत्रकारों द्वारा यह कहा गया है और आशा की गयी है कि संवाददाता सर्वसाधारण का प्रतिनिधित्व करे। किन्तु, यदि वह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में उत्पीड़कों का ही सहायक हो जाता है या चुप लगा जाता है तो उसे सर्वसाधारण का प्रतिनिधि कैसे कहा जायेगा? ऐसा भी होता है कि किसी संवाददाता के अपने क्षेत्र का कोई गरीब किसान एक ओर उसी क्षेत्र के किसी प्रभावशाली तथा सम्पन्न व्यक्ति की ज्यादतियों का शिकार होता है, दूसरी ओर उस व्यक्ति से घनिष्ठता रखने वाले पुलिस-अधिकारी द्वारा भी परेशान किया जाता है—इस स्थिति में सम्पन्न व्यक्ति तथा पुलिस-अधिकारी से भी अच्छा सम्पर्क रखने वाला संवाददाता क्या उक्त गरीब किसान का पक्ष साहस के साथ, धर्मसंकट तथा संकोच त्याग कर, ले सकता है या लेना चाहेगा? यदि 'हाँ', तो उसे जनता का प्रतिनिधि जरूर कहा जायगा, अन्यथा उसका शत्रु।

प्राय: संवाददाता का सम्पर्क ऊपर ही ऊपर रहता है, जैसाकि सम्पर्क के अध्याय में देखा गया है। बड़े लोगों तथा अधिकारियों, खास करके पुलिस-अधिकारियों, से सम्बन्ध अधिक रखने के कारण संवाददाता की प्रकृति या स्वभाव या विचार पर प्रभाव उन्हीं लोगों का पड़ जाता है और नीचे के लोगों में दोष ज्यादा दिखलायी देता है। यह प्रभाव अन्ततः संवाददाता को अंधा बना देता है और वह जनता से बहुत दूर पड़ जाता है।

यह सही है कि छोटे-से-छोटे सरकारी दफ्तर से लेकर बड़े-से-बड़े सरकारी दफ्तर तक में लोगों के अधिकांश कार्य छोटे या नीचे के कर्मचारियों से ही होते हैं और उन्हीं से लाल-फीताशाही या कुछ 'देने-दिलाने' का कटु-तिक्त अनुभव होता है। कहने का मतलब यह कि आम आदमी को केवल ये बेचारे छोटे या नीचे के कर्मचारी ही भ्रष्ट दिखलायी देते हैं, ऊपर के अधिकारियों या दूसरे बड़े लोगों तक उसकी पहुँच ही नहीं होती, अत: अपने ही अनुभव से वह उनकी कोई भारी भ्रष्टता कैसे देखेगा? आम आदमी से होने वाले अनुभव को कवच बना कर संवाददाता अपने ऊपर होने वाले या हो सकने वाले प्रहारों (सम्पर्कजन्य भ्रष्टाचार के आरोपों) से अपनी रक्षा करता रहता है या रक्षा करने की कोशिश करता है।

'अधिकांश' कहना यदि सही न हो तो, 'अनेक' लगा कर तो यह कहा जा सकता है कि जब किसी सरकारी कार्यालय में अधिकारियों और कर्मचारियों के बीच संघर्ष छिड़ जाता है या प्राय: संघर्ष की स्थिति बनी रहती है तो आमतौर पर सभी अधिकारी (उच्च, उच्चतर तथा)   के प्रति हर तरह से   या शिष्टता प्रदर्शित करते

कुछ 'और' करके—उनको अपने पक्ष में करने की कोशिश में लग जाते हैं और 'अनेक' को अपने पक्ष में कर ही लेते हैं। इन 'अनेक' में अधिकांश सदा के लिए अधिकारियों के 'मित्र' हो जाते हैं और 'अफसरों से घनिष्ठता होने का जितना रंग गाँठ सकते हैं, गाँठते हैं और जितना लाभ उठा सकते हैं, उठाते रहते हैं।

उपर्युक्त 'अनेक' संवाददाताओं को छह-सात सौ रुपये वेतन के अतिरिक्त 'कुछ और' कमा सकने या कमा लेने वाले कर्मचारी तो अधिक निकम्मे तथा भ्रष्ट दिखलायी देने लगते है और पाँच हजार से अधिक वेतन के अतिरिक्त 'बहुत-कुछ' कमा लेने वालों का 'न छिप सकने वाला' वैभव तथा निकम्मापन आँखों से ओझल हो जाता है। जब ये संवाददाता देश की गरीबी तथा देश के गरीबों की तुलना में इन कर्मचारियों को सम्पन्न बताते हैं तो मालूम पड़ता है कि इन्हे देश के गरीबों से बड़ी सहानुभूति है और गरीबी से बड़ा दुःख है। किन्तु, वास्तव में बात यह है कि अफसरों के प्रति अपनी 'हमदर्दी' की ओर लोगों का ध्यान न जाने देने के लिए ही ऐसी बातें करते हैं। अन्ततः होता यह है कि अधिकारियों के अच्छे और कर्मचारियों के बुरे होने की एक धारणा इन संवाददताओं की बन जाती है। यह धारणा ही जब एक जड़ स्वभाव बन जाये, तब गरीबों के प्रति, छोटो के प्रति, वास्तविक सहानुभूति तथा प्रेम का स्वभाव भला कैसे बन सकता है?

इधर अधिकारियों तथा उच्च पदाधिकारियों को लेकर बनी यह धारणा और उधर यह सोचना कि 'जब पत्रों की ही नीति सर्वसाधारण की उपेक्षा की है और सम्पादक-गण भी इस नीति को दूर करने में असमर्थ हैं, तब हमसे ही सर्वसाधारण का ख्याल रखने की अपेक्षा क्यो की जायेगी'—ये दोनों तथ्य किसी जनहितकारी स्वभाव-साधना के विचार को ध्वस्त कर देते हैं।

जो कुछ भी हो, यदि संवाददाता एक ओर पत्र का प्रतिनिधि है तो दूसरी ओर पत्रकारिता के आदर्श तथा सिद्धान्त का तकाजा है कि वह अपने पाठकों का भी प्रतिनिधित्व करे। पाठकों के प्रतिनिधित्व से मतलब आम जनता से ही होता है। यदि सिद्धान्त तथा आदर्श कथनी में ही अधिक हों और करनी में बहुत कम, तो 'करनी में बहुत कम' पर ही आशा लगा कर जनप्रेम, करुणा, उदारता आदि को व्यवहार में उतारने की बात कुछ सोची जा सकती है। सवाददाता का चाहे जो रुख हो, जनता आशा करती है कि संवाददाता उसके प्रति कुछ-न-कुछ सहानुभूति रखेगा। अस्तु, जनता की इस 'भोली आशा' के साथ सोलहों आने विश्वासघात नहीं होना चाहिए।

गरीब देश के संवाददाता को गरीबों तथा पददलितों का साथी बनने, उनकी भोली आशा के साथ विश्वासघात न करने, का एक संकल्प करना होगा। यदि जनता के बीच रहना है तो उसकी भावनाओं का प्रतिनिधित्व करना होगा। उन संवाददाताओं की बात छोड़ दीजिए जो ऊपर ही ऊपर सम्पर्क करके—जनता से सीधा सम्पर्क किये बिना—काम चला लेते हैं और बड़े भी हो जाते हैं। जिला-स्तर के संवाददाताओं को तो जो जनता के बीच ही रहते हैं जन की बात पर गौर करना ही चाहिए इनसे यह आशा की जा सकती

है कि यदि वे परस्पर-विरोधी शक्तियों के दबाव तथा प्रभाव में पड़कर अनुदार या कोरे व्यवहारवादी हो गये हैं तो भी अपनी उदारता को वापस लाने का प्रयास कर सकते हैं।

स्थिति जैसी भी हो गयी हो, यह नहीं सोचा जा सकता कि जिन विकृतियों के कारण संवाददाता और दूसरे पत्रकार जनता से दूर पड़ते जा रहे हैं, उन पर चिन्ता करने वाले अब नही रहे। स्वयं संवाददाताओं के बीच कुछ चिन्तित मिल जायेंगे। इन कुछ चिन्तित संवाद-दाताओं की समझ में यह बात आ जायेगी कि 'जन-सम्पर्क' का सिद्धान्त यदि सर्वसाधारण के अलावा औरों से भी सम्पर्क का हो तो उसमें निर्लिप्तता होनी ही चाहिए—यानी, सम्पर्क सबसे किया जाय, सबसे रखा जाय, किन्तु उसी तरह जिस तरह कमल जल में रहते हुए उससे निर्लिप्त रहता है। यह साधना कठिन जरूर है, पर की जा सकती है।

बड़प्पन और उसका भ्रम

और देशों या अपने ही देश के सभी क्षेत्रों के बारे साधिकार यह कहना ठीक नहीं होगा कि संवाददाता बनते ही 'संवाददाता होने का रोब' गालिब करने की एक प्रवृत्ति हो जाती है; किन्तु, अपने हिन्दी-क्षेत्र में तो यह प्रवृत्ति व्यापक मालूम पड़ती है। इस रोब में प्रायः अपने को जरूरत से ज्यादा बड़ा मान लिया जाता है। कुछ खास बड़े व्यक्तियों से निकटता क्या हो जाती है कि ये संवाददाता अपने को भी 'बड़ा आदमी' समझने लगते हैं। कभी-कभी तो बड़ों के स्वार्थमिश्रित प्रेम-प्रदर्शन, सम्मान-प्रदर्शन तथा बराबरी के व्यवहार से अपने को उन 'बड़ों' से भी बड़ा समझ लेने का एक ऐसा भ्रम पैदा हो जाता है कि वह जल्दी दूर नहीं होता।

यह भ्रम बहुत जल्दी पैदा हो जाता है और बहुत देर में मरता है। यह भ्रम अन्ततः अपने लिए, अपने पत्रकार-व्यक्तित्व के लिए और अपने पत्र के लिए घातक सिद्ध होता है। आश्चर्य और दुःख इस बात पर और बढ़ जाता है कि इन संवाददाताओं में अधिकांश अपनी ही बिरादरी (पत्रकार-बिरादरी) के वयोवृद्ध, अनुभववृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध जनों से भी बड़ा अपने को मान बैठते हैं, क्योंकि नगर के बहुत-से और बाहर के अनेक बड़े लोगों में उनकी पैठ हो जाती है। इनसे अपने को बड़ा मान बैठने पर वे इन बुजुर्गों का अपमान तक कर बैठते हैं।

इन सबको, अपने भ्रम के कारण, यह बात समझ में नहीं आती कि अपने सहज बड़प्पन से जो आदर-सम्मान तथा प्रेम प्राप्त होता है उसके सामने यह भ्रमजनित बड़प्पन वास्तविक नहीं होता; यदि कुछ वास्तविक-सा लगता है तो तुच्छ होता है और स्थायी नही होता। दूसरों की कृपा से, दूसरों के बड़प्पन से और मालिक की कृपा से जब तक संवाददाता बने रहते हैं, तभी तक उनका प्रयोग हो सकने से ही उन्हें जो बड़प्पन प्राप्त होता है, उसे अपना वास्तविक बड़प्पन समझना भ्रम नहीं तो और क्या है?

भ्रम-निवारणार्थ दूसरी जो बात संवाददाता को समझायी जा सकती है, वह यह है कि जिन खास व्यक्तियों से निकटता होने पर संवाददाता बहुत उछलता-कूदता है, अपना रोब तथा महत्व दिखलाता है और बड़ा आदमी बन बैठता है, उनके दबाव, प्रभाव तथा [illegible] यदि पत्र या के साथ कम हो गये और उनके विरो[illegible]

खास व्यक्तियों के दबाव, प्रभाव तथा सम्बन्ध बढ़ गये तो संवाददाता का सारा रंग फीका पड़ जायेगा।

तीसरी बात जिससे संवाददाताओं—खास करके छोटे संवाददाताओं—का भ्रम जरूर मिटना चाहिए और शीघ्रता से मिटना चाहिए, वह है स्वयं संवाददाताओं के बीच छोटे-बड़े की भावना। बड़े पत्रों के संवाददाता किसी संवाददाता-संगठन के मंच पर भले ही समता की कुछ बातें कर लें, जब-तब जहाँ-तहाँ समता का प्रदर्शन भले ही कर लें और दो-चार छोटे संवाददाताओं के मित्र भले हो जायें, आमतौर पर छोटे संवाददाताओं को, जिनकी सख्या अस्सी प्रतिशत से कम नहीं होती, छोटा ही समझते हैं। वस्तुत: छोटा या बड़ा होना एक बात है और आपस में एक-दूसरे के प्रति छोटे-बड़े का भाव मन में आना दूसरी बात है। बडा पत्र बड़ा कहा ही जायगा और बड़े पत्र का संवाददाता यदि योग्यता तथा वेतन से बड़ा है तो छोटा नहीं कहा जायगा, बड़ा ही माना जायगा। किन्तु बड़प्पन के अहं के साथ बड़ा और छोटेपन की आत्मलाघव-भावना के साथ छोटा मानने-समझने की बात अनुचित होगी।

जो संवाददाता नामी हो गये हैं या बड़े पत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्हें छोड़कर शेष के सामने उन्हीं बड़े व्यक्तियों द्वारा अपमानित भी होने या दुर्व्यवहार किये जाने की स्थिति बराबर आती रहती है जो पहले सम्मान-प्रदर्शन, प्रेम-प्रदर्शन तथा बराबरी के व्यवहार का प्रदर्शन करते रहे। शिक्षा तथा ज्ञान में कम होते हुए, स्वयं अपने पत्र-संचालकों की दृष्टि मे कोई ठोस स्थिति न रखते हुए और जरा-सा खुश होने पर प्रशंसा में तथा जरा-सा नाराज होने पर निन्दा में कालम-डेढ़ कालम रंग देने की आदत में लिप्त रहते हुए यदि कोई संवादाता किसी उच्च शिक्षा तथा ज्ञान से सम्पन्न और साथ ही उच्चपदस्थ व्यक्ति से बहुत ज्यादा उलझ जायेगा, अनावश्यक अहं या रोब दिखाने लगेगा तो उसे अपमानित होना ही पड़ेगा। प्राय: अधिकारियों की चाटुकारिता में लिप्त रहने वाला व्यक्ति तो तब जरूर ही अपमानित होगा जब वह केवल इसलिए अपने को बड़ा प्रदर्शित करने लगेगा कि वह 'एक पत्र का संवाददाता है, उस पत्र का 'प्रतिनिधि' है।

कोई गम्भीर संवाददाता 'क्षणे तुष्टा 'क्षणे रुष्टा' वाली बात और ऐसी ही दूसरी बातें पसन्द नहीं करेगा। इन्हें वह अपने लिए हास्यास्पद मानेगा। ये हास्यास्पद होती भी हैं। जो सवाददाता गम्भीर होता है, सचमुच अपनी सम्पूर्ण स्थिति में सम्मान योग्य होता है और सवाद-सजग होता है, वह कभी-कभी संवाद के लिए अपमानजनक स्थिति भी बर्दाश्त कर लेता है, उसके लिए तैयार भी रहता है। उसे अक्सर कड़वी घूंट पीकर रह जाना पड़ता है। किन्तु, इससे उसके स्थायी सम्मान पर वस्तुत: कोई आँच नहीं आती।

'बड़प्पन और छोटेपन' का (छोटे-बड़े) का यह विवेचन यदि कुछ अर्थ रखता है और इसकी कोई प्रासंगिकता समझ में आती है तो इसका स्पष्ट संकेत यह है कि संवाददाता अपने वास्तविक बड़प्पन के लिए सचेष्ट रहे, बड़प्पन के भ्रम में ओछेपन का परिचय न देने लगे और अपने सही बड़प्पन का उपयोग स्वार्थ में नहीं संवाद-संग्रह में करे। यह संकेत स्वभाव-साधना तथा अपने पर स्वय नियत्रण के एक कठिन अभ्यास का है

'स्वभाव-साधना' विषय का समापन करने से पूर्व जिन कुछ और बातों का उल्लेख करने की ओर ध्यान गया है, उनमें 'विनोदप्रियता तथा कुछ ठकुरसुहाती' की बात भी आवश्यक प्रतीत होती है। विनोदप्रियता तो एक सहज गुण ही माना जायगा; किन्तु अपवाद-स्वरूप वह प्रयत्नसाध्य भी हो जाता है। अतः यदि संवाददाता स्वभाव से विनोदी या विनोदप्रिय नहीं है तो उसे इसके लिए कुछ प्रयत्न तथा अभ्यास करना पड़ेगा। 'ठकुरसुहाती' (चाटुकारिता) के सम्बन्ध में यह सलाह तो नहीं दी जानी चाहिए कि उसका कोई अभ्यास करके उसे अपने स्वभाव का अंग बना लिया जाय, किन्तु अवसर-विशेष पर व्यक्ति-विशेष के साथ इसका भी कुछ प्रयोग कर लेना एक गुण माना जायेगा। हमने यहाँ 'चाटुकारिता' के स्थान पर 'ठकुरसुहाती' शब्द का प्रयोग इसीलिए किया है कि वह दुर्गुण के रूप में प्रस्तुत न हो।

अंत में निष्कर्षरूप में यहाँ एक बार फिर समझ लेना होगा कि संवाददाता इस प्रकार हर तरह से हर क्षेत्र में अपने स्वभाव को साध लेगा तो वह हर चरण पर परीक्षा में उत्तीर्ण होता जायेगा और किसी को बहुत नाराज या खुश किये बिना पत्रकारिता में बहुचर्चित निष्पक्षता का निर्वाह बहुत हद तक कर ले जायेगा और अंततः अपना व्यक्तित्व ऐसा बना लेगा जिसे कोई 'उधार लिया हुआ' व्यक्तित्व नहीं कह सकेगा। ऐसा संवाददाता सही माने में प्रभावशाली होगा।

संवाद-प्राप्ति के साधन

प्राचीन काल के भी समाचार-साधनों तथा समाचार-स्रोतों का एक संक्षिप्त परिचय प्रसंगवश पहले ही दिया जा चुका है। अब यहाँ आधुनिक साधनों तथा स्रोतों की चर्चा की जायगी। साधन, स्रोत तथा सूत्र के बारे में यह बता देना आवश्यक है कि यदि ये प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं तो इनमें अन्तर भी है। 'स्रोत' वह स्थान है जहाँ से समाचार मिलते हैं निकलते हैं और मिलते रहते हैं। 'साधन' शब्द उन उपायों तथा उपकरणों के लिए प्रयुक्त होता है जो सामान्यतः उपलब्ध रहते हैं, उपलब्ध रखे जाते हैं और आसानी से उपलब्ध किये जा सकते हैं। किसी समाचार की प्राप्ति के समय उसके लिए जो सम्पर्क या उपाय किये जाते हैं, उनके लिए 'सूत्र' शब्द आता है।

आज समाचारों के स्वरूप, आकार-प्रकार और उनके साधनों, स्रोतों तथा सूत्रों में इतने परिवर्तन होते जा रहे हैं कि प्राचीन स्वरूप तथा साधनों को वस्तुतः कोई स्वरूप तथा साधन मानने में कठिनाई होती है। आज समाचारों के लिए कबूतरों, घोड़ों, घुड़सवारों की जरूरत नहीं और न कुछ खास संकेतों वाले नगाड़ों की कोई जरूरत है। आज तो विज्ञानोन्नत तमाम साधनों का उपयोग होने लगा है—परिवहन, यातायात और संचार-साधनों का। डाक-तार, टेलीफोन, बेतार के तार, समुद्री तार,...वायुयान, अन्तरिक्ष-यान, समुद्री जहाज, ट्रेन, बस, जीप मोटर कार...आदि द्वारा संवादों का शीघ्रातिशीघ्र पाना और दूर-दूर तक समाचारों-पत्रों का यथासमय पहुँच जाना कितना आसान हो गया है। इन सबके सामने प्राचीन स्वरूप तथा साधनों को अब कोई स्वरूप तथा साधन कैसे माना जाय ?

संवाददाता

इन सारे साधनों का उपयोग करने में संवाददाता ही सबसे आगे आता है। संवाददाताओं को अपने-आप में एक साधन, स्रोत या सूत्र या तीनों माना जा सकता है, बशर्ते वे साधन, स्रोत या सूत्र बनने का उपयुक्त प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके हों और इनके योग्य हो गये हों। यद्यपि अधिकांश समाचार-पत्रों ने समाचार के सर्वप्रमुख साधन के रूप में समाचार-समितियों की सेवा उपलब्ध कर ली है, अपने यहाँ उनके टेलिप्रिन्टर लगवा लिये हैं, तथापि उन्हें अपने संवाददाता भी रखने पड़ते हैं—कार्यालय-संवादाता, स्थानीय संवाददाता, जिलों के संवाददाता...। और फिर, समाचार-समितियों के भी तो सर्वप्रथम आधार संवाददाता ही होते हैं। यन्त्रीकरण से उत्तरोत्तर उन्नत तथा बृहत्तर होती आयी समाचार-समितियों में से क्या कोई ऐसी हो सकी है जिसका काम बिना संवाददाता के चलने लगा हो या भविष्य में चलने लगे ? वास्तव में यन्त्रीकरण की वृद्धि के साथ संवाददाताओं की संख्या में भी वृद्धि होती आयी है यह बात दूसरी है कि जिस अनुपात में यन्त्रीकरण बढ़ा है उसी अनुपात में संवाददाता न बढ़े हों

भविष्य की बात भविष्य जाने, विज्ञान जाने या भगवान जाने, अभी तो न ऐसा हुआ है और न होता दिखलायी देता है कि कोई बड़ा-से-बड़ा समाचार-पत्र या बड़ी-से-बड़ी समाचार समिति कहीं अपना संवाददाता न भेजकर यंत्र ही भेज दे और समाचार प्राप्त कर ले। इसी प्रकार भेंटवार्ता भी बुद्धिमान प्रतिनिधि द्वारा ही हो सकती है, यंत्र-मानव द्वारा नहीं। इस प्रकार इस यन्त्रीकरण के युग में भी 'साधनों के साधन' के रूप में संवाददाता का महत्व बना हुआ है और बना रहेगा। अपने महत्त्वके प्रति सजग तथा यन्त्रयुग के अनुरूप संवाददाता यह सिद्ध करता रहेगा कि इस युग में भी सजीव व्यक्तियों की बुद्धि, चेतना तथा श्रम की आवश्यकता मिटाई नहीं जा सकती।

संवाददाता अपने-आप में एक साधन जरूर है, किन्तु यदि वह आराम से, घिसे-पिटे या पिटे-पिटाये ढंग से ही पिटे-पिटाये संवाद एकत्र करने में लगा रहता है, संवाद प्राप्त करने के लिए कुछ बुद्धि लगाने, दौड़-धूप करने और संकटों का सामान करने का कोई खास प्रयास नहीं करना या इन सबके लिए उसे पत्र की ओर से प्रोत्साहन या प्रेरणा नहीं मिलती तो वह नाममात्र का ही संवाददाता कहा जायेगा, आधुनिक संवाददाता तो नहीं ही बन सकेगा। आधुनिक संवाददाता बनने पर ही वह 'साधनों का साधन' कहा जायेगा।

जैसे आधुनिक संवाददाता कहलाने के लिए कुछ बातें जरूरी हैं, वैसे ही आधुनिक पत्र कहलाने के लिए बहुत-सी बातें जरूरी हैं। इन बहुत-सी बातों में एक बात तो यह है कि उसके संवाददाता सचमुच आधुनिक हों—साधनों तथा उपकरणों से, योग्यताओं से और विचारों से। पत्र की आधुनिकता के लिए यह भी जरूरी है कि उसके दो-एक ही संवाददाता या पहले की तरह कुछ इने-गिने खास संवाददाता ही न हों। वैसे एक नन्हा-सा 'भारतीय' अखबार भी, जिसे न्यूनतम निर्धारित स्तर के अनुसार अखबार मानने में कठिनाई होती है, अपने एक-दो संवाददाता रखना चाहता है और 'संवाददाता कहलाने के प्रलोभन' से रख भी लेता है; किन्तु उसके संवाददाता से कोई विशेष अपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसे पत्रों के संचालक, उसी प्रकार प्राय: संवाददाता भी बन जाते हैं जिस प्रकार सम्पादक बने बैठे होते हैं।

जिन दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्रों को अपने यहाँ की स्थिति के अनुसार मात्र 'बुलेटिनी' पत्र न भी कहा जाता हो, उनमें भी अधिकांश संवाददाताओं को बस एक साधारण सा अधिकार-पत्र, कुछ कागज तथा लिफाफे और नाम-मात्र के पन्द्रह-बीस या पचीस-तीस रुपये पारिश्रमिक पर नियुक्त कर लिये जाने की स्थिति संवाददाताओं के लिए अच्छी नहीं होती। इस स्थिति में इन पत्रों के संवाददाता कुछ आत्मतुष्ट भले ही रहें और अपने को 'बुलेटिनी पत्रों' के संवाददाताओं से कुछ बड़ा भले मान लें, किन्तु यह स्थिति संवाददाता के रूप में विकास करने की वस्तुत: होती नहीं। 'संवाददाता कहलाने का आकर्षण' एक ऐसा लोभ है जिसका लाभ उठाने की कोशिश में पत्र-संचालक अपने पत्र के और अपने संवाददाता के वास्तविक व्यक्तित्व की बात भूल जाता है।

जो कुछ भी हो अपने यहाँ की स्थिति के अनुसार जिन पत्रों को एक स्तर का कहा ज

सकता है, उनमें नियुक्त संवाददाताओं की एक सामूहिक शक्ति तो बनती ही है जिसे नगण्य या उपेक्षणीय नहीं माना जायेगा और इसलिए 'संवाद-प्राप्ति के साधन' शीर्षक के अन्तर्गत उनका उल्लेख किये बिना कैसे रहा जा सकता है ? संवाद प्राप्त करने के साधन के रूप मे सवाद के नये-नये स्रोत ढूँढ़ने तथा संवाद-सूत्रों का पता लगाने में संवाददाता की सफलता या विफलता कुछ भी हो, योग्यता या अयोग्यता का कोई परिचय मिले या न मिले, जो लोग अपने 'सवाद' छपवाने के फेर में रहते हैं, वे प्रायः उसे अपना साधन बना ही लेते हैं। इस प्रकार वह उन लोगों के संवाद का तो साधन बन ही जाता है। ऐसे साधन बनकर जब वह अपना अधिकाश समय उन्हीं लोगों के इर्द-गिर्द मँडराने में लगा देता हो तो वह अन्य संवादों का साधन बनने से वंचित रह जायगा। इस तथ्य पर उस संवाददाता को तो अवश्य ध्यान देना चाहिए जो अपने-आप में 'एक संवाद-साधन' का कुछ अर्थ समझता है और सचमुच 'संवाद-साधन' बनना चाहता है।

समाचार-पत्रों की तरह समाचार-समितियों के भी संवाददाता होते हैं। वस्तुतः संवाद समितियों का अधिकांश काम संवाददाताओं द्वारा ही होता है। समाचार-पत्रों में यदि संवाददाता और सम्पादक-मण्डल के सदस्यों का अनुपात तीन और एक का होता है तो समाचार-समितियों में यह कम-से-कम पाँच और एक का होगा। समाचार-समिति जितनी बड़ी होगी, उसके संवाददाताओं की संख्या भी उतनी ही बड़ी होगी। जिले के या उससे कुछ बड़े क्षेत्र के स्तर पर देखने से तो लगेगा कि समाचार-समितियों के संवाददाता बहुत अधिक नहीं होते; किन्तु बृहत्तर क्षेत्र की दृष्टि से देखा जाय तो किसी एक औसत समाचार-पत्र के संवाददाताओं की संख्या से तिगुनी संख्या एक औसत समाचार-समिति के संवाददाताओं की होगी।

समाचार-पत्रों को तो अपने वितरण-क्षेत्रों तक की ही चिन्ता होती है; किन्तु, समाचार-समितियों को दूर-दूर तक की व्यवस्था देखनी होती है। समाचार-समितियों के अपने अनेक कारणों से यह सम्भव नहीं हो पाता कि वे हर जिले में उतने ही संवाददाता रखें जितने उस जिले में खपने वाले पत्रों के होते हैं। किन्तु, कुल मिलाकर—अनेक जिलों में नियुक्त संवाददाताओं को देखते हुए—संवाद-समितियों के संवाददाताओं की संख्या बहुत हो जाती है। संवाद-समितियाँ अपने विशेष रूप से प्रशिक्षित संवाददाताओं के माध्यम से ऐसी व्यवस्था बना लेती है कि उन्हें हर जिले में जगह-जगह संवाददाता रखने की जरूरत नहीं होती, जगह-जगह संवाददाता रखे बिना उनका काम चल जाता है।

ऐसा प्रायः नहीं होता या बहुत कम होता है कि किसी छोटे या दूर पड़े स्थान पर कोई बहुत बड़ी घटना घट जाय और इन समितियों को पता ही न लगे। समाचार-पत्रों के सवाददाताओं और समाचार-समितियों के संवाददाताओं में जिला-स्तर पर भी कुछ होड़ रहती है या होड़ की सम्भावना रहती है; किन्तु आमतौर पर जिलों में नियुक्त अखबारों के सवाददाता पूरे जिले के लिए नियुक्त एक या एकाधिक समिति-संवाददाता को वैसी किसी बड़ी घटना का समाचार उसे बता ही देते हैं इसके [illegible] यों भी [illegible] को आपस से सहयोग रखने की जो [illegible] रहती है उससे भी वे एक-दूसरे का

सहयोग करते रहते हैं। इस सहयोग तथा अपने प्रभाव के अलावा कुछ और सम्पर्क-सूत्र भी समिति-संवाददाता बना लेते हैं।

रेडियो के अपने अलग (कुछ भिन्न) संवाददाता होते हैं जिन्हें अपने ढंग से प्रशिक्षित किया जाता है। जिस प्रकार रेडियो से प्रसारित होने वाले समाचारों तथा समाचारेतर सामग्रियों के सम्पादन की अपनी विशिष्टता तथा पत्रों के सम्पादन के कुछ भिन्नता होती है, उसी प्रकार उसके संवाददाताओं की कुछ विशिष्टता तथा भिन्नता होती है। रेडियो के प्रसारण में निर्धारित समय, कम समय, में कुछ चुनी हुई सामग्री प्रसारित करनी होती है। इस कार्य में 'गागर में सागर' तथा चयन का विशेष परिचय देना पड़ता है और इसका विशेष प्रशिक्षण होता है। समाचार-समितियों की ही तरह रेडियो के लिए भी यह सम्भव नहीं है कि हर जिले में संवाददाताओं की भरमार कर दे।

अमेरिका, इंगलैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों और जापान-जैसे एकाधिक एशियाई देशों के बड़े-बड़े साधनसम्पन्न समाचारपत्रों ने—जिनकी खपत लाखों में ही नहीं, एक करोड़ तक पहुँच गयी है—अपने-अपने देश की प्रमुख समाचार-समितियों की सेवा उपलब्ध रखने के अलावा अपनी स्वतंत्र टेलिप्रिन्टर-सेवाएँ स्थापित कर रखी हैं। इन समाचार-पत्रों ने अपने संवाददाताओं का जाल बिछा दिया है। इन संवाददाताओं में से सभी को नहीं तो अधिकांश को पत्र-संचालक अपनी दाहिनी भुजा मानते हैं, शेष संवाददाताओं को भी महत्वपूर्ण ही समझा जाता है। कुछ संवाददाताओं का दर्जा सम्पादक के बराबर हो गया है। ब्रिटेन के अन्यान्य नगरों से निकलने वाले पुराने पत्रों में से कुछ के लन्दन-स्थित विशेष संवाददाता को तो बहुत पहले से 'लन्दन एडिटर' नाम मिलता आ रहा है।

समाचार-समितियाँ

संवाददाताओं के उल्लेख के बाद अब हम समाचार-समितियों पर आते हैं। इनके सम्बन्ध में पहले यह बताना है कि समय और स्थान की दूरियाँ यदि अब दूरियाँ नहीं रह गयी हैं, तो इसका कारण प्रथमतः इन्हीं को मानने में कोई विवाद नहीं होना चाहिए। समाचार-समितियों को उन वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ रखकर देखना ठीक होगा जिनके कारण यह कहा जाने लगा है कि विज्ञान ने संसार को छोटा बना दिया है। अब इन समाचार-समितियों, खास करके अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की बन गयी समाचार-समितियों की कृपा से ही सुदूर पूर्व, सुदूर पश्चिम, सुदूर उत्तर तथा सुदूर दक्षिण के बड़े-से-बड़े समाचार कुछ ही मिनटों में प्राप्त हो जाते हैं। इन समाचार-समितियों से अखबारों का काम हजार गुना आसान हो गया है। कोई समाचार-पत्र कितना ही बड़ा और साधनसम्पन्न क्यों न हो, वह सारे संसार में अपनी स्वतंत्र टेलीप्रिन्टर लाइन, डाक-तार, बेतार, समुद्री तार आदि की व्यवस्था अकेले नहीं कर सकता और न अपने संवाददाताओं का कोई जाल बिछा सकता है। यह कार्य एक अलग व्यवसाय के रूप में सवाद-समितियाँ ही कर सकती हैं

हमारे देश में के नाम उल्लेख्य हैं—प्रेस ट्रस्ट

ऑफ इण्डिया (पी० टी० आई०), यूनाइटेड प्रेस ऑफ इण्डिया (यू० पी० आई०), यूनाइटेड न्यूज ऑफ इण्डिया (यू० एन० आई०), हिन्दुस्तान समाचार, समाचार भारती, नेशनल प्रेस ऑफ इण्डिया, न्यूज फीचर्स ऑफ इण्डिया, इन्फा, नफेन, केरल प्रेस सर्विस, इन्डिपेन्डेन्ट प्रेस ब्यूरो (कानपुर), टाइम्स न्यूज सर्विस (कानपुर), हिन्द न्यूज एजेन्सीज (कलकत्ता), डेक्कन न्यूज एजेन्सी (हैदराबाद), इण्डियन प्रेस एजेन्सी, ईस्टर्न एण्ड इण्डिया न्यूज एजेन्सी आदि।

बीच में आपातस्थिति घोषित होने पर 'समाचार' नाम से उदित समाचार-संस्था अब अस्त हो गयी है। अनेक समितियों के उदय और अस्त की जो स्थिति है उसमें संवाददाताओ को स्वयं जब-तब अलग से जानकारी प्राप्त करते रहना होगा। यही बात विदेशी समाचार-समितियों के बारे में होगी।

विदेशी समाचार-समितियाँ—ब्रिटेन की सर्वप्रमुख समाचार-समिति रायटर है जो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की है और जिससे अमेरिका तक की प्रमुख समाचार-समितियाँ—एसोसिएयेट प्रेस ऑफ अमेरिका तथा यूनाइटेड प्रेस—कभी आतंकित रहा करती थी। इससे भारत का सम्बन्ध अभी तक बना है। इसकी स्थापना 1849 में जूलियस रायटर ने की थी। रायटर ने प्रारम्भ में दो कार्यालय एक साथ खोले—एक जर्मनी में, एक फ्रांस में। जर्मनी का फ्रास की ओर आखिरी तारघर आखेन में और फ्रांस का जर्मनी की ओर आखिरी तारघर निमर्स में था। इन्हीं दोनों स्थानों में उसके कार्यालय स्थापित हुए। इन दोनों के बीच पहले-पहल कबूतरों का उपयोग किया गया—समाचार के आदान-प्रदान के लिए। सन् 1851 मे एक और कार्यालय खुला लन्दन में।

ब्रिटेन में रायटर के अलावा तीन और समाचार-समितियाँ प्रसिद्ध रहीं—प्रेस एसोसियेशन एक्सचेन्ज टेलिग्राफ कम्पनी और ब्रिटिश यूनाइटेड प्रेस। प्रेस एसोसियेशन की स्थापना 1868 में हुई। इससे कुछ सहयोग रायटर भी प्राप्त करता रहा। प्रेस एसोसियेशन के संवाददाताओं की संख्या—पिछली जानकारी के आधार पर—करीब दो हजार थी।

राष्ट्रमण्डल के देशों की राष्ट्रीय समाचार-समितियों से संयुक्त स्वामित्व के आधार पर सहयोग के परिणामस्वरूप रायटर की स्थिति किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समाचार-समिति के मुकाबले काफी ठोस बनी रही। इसके विदेशी समाचार बेतार के टेलिप्रिन्टर से आते-जाते रहे। लंदन-कार्यालय में रोज दस-बारह लाख शब्द पहुँचते रहे और एक लाख से अधिक शब्द भारत तथा अफ्रीका भेजे जाते रहे।

अमेरिका की समाचार-समितियों में तीन सर्वप्रमुख हैं और इन्होंने एकाधिकार-सा स्थापित कर रखा है। एसोसियेट प्रेस ऑफ अमेरिका तथा रायटर में किसी समय गहरी प्रतिस्पर्धा थी। यह रायटर के ही मुकाबले अन्तर्राष्ट्रीय समाचार देती है। इसके चार हजार से अधिक ग्राहक हो गये। इसकी तार की लाइनें साढ़े-तीन लाख मील लम्बी थी। न्यूयार्क और लन्दन के बीच इसकी अपनी केबुल-लाइन है। लन्दन से यूरोप की कई राजधानियों तक इसने किराये पर लाइन ली हैं यह बेतार के फोटो भी भेजती हैं अब यह और विकसित हो

अमेरिका की दूसरी प्रमुख समाचार-समिति यूनाइटेड प्रेस की स्थापना 1907 में हुई। इसके संस्थापक थे स्क्रिप्स, जो अनेक पत्रों का भी संचालन करते थे। इसका सम्बन्ध करीब साढे-तीन हजार समाचार-पत्रों तथा रेडियो से है। तीसरी समाचार-समिति इन्टरनेशनल यून्ज सर्विस का भी विस्तार इसी प्रकार काफी हुआ।

कनाडा की 'ब्रिटिश यूनाइटेड प्रेस' अमेरिका की 'यूनाइटेड प्रेस' से सम्बद्ध है। रूस की समाचार-समिति 'तास', चीन की नवचीन समाचार-समिति, युगोस्लाविया की 'तानजुग' चेकोस्लोवाकिया की सेतका, इन्डोनेशिया की अंतारा की प्रसिद्धि विदेशों में भी है। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने तक जर्मनी की 'वूल्फ', फ्रांस की 'हावा' तथा इटली की 'स्टेफानी' का उल्लेख प्रमुख रूप में होता रहा। अब नयी समितियाँ भी गठित हो गयी हैं, कुछ विघटित हुई है।

'रायटर' : एक विस्तृत परिचय

रायटर से ही भारत में समाचार-समितियों की स्थापना का शुभारम्भ हुआ। रायटर ने पहले-पहल सन् 1878 में बाजार-भाव देने के उद्देश्य से बम्बई में अपनी एक शाखा खोली। यही बाद में नये नाम से उसकी प्रमुख शाखा हो गयी जो बाजार-भाव देने तक ही सीमित नहीं रही। उसने देश-विदेश के अनेक अन्य समाचार भी देने शुरू किये। इसी की एकाधिकारी तथा साम्राज्यवादी छाया में 'एसोसियेटेड प्रेस ऑफ इण्डिया' की स्थापना हुई। प्रथम भारतीय समाचार-समिति इसे ही कहा जायेगा। इसे 1910 में कृष्णचन्द्र राय ने स्थापित किया था। यह केवल इस माने में भारतीय थी कि भारत में स्थापित हुई थी। इसके अनेक सहकारी डाइरेक्टर अंग्रेज थे। इसके द्वारा संगृहीत तथा प्रसारित समाचारों पर ब्रिटिश-शासन की छाप थी और यह मुख्यतः सरकारी नीति का समर्थन करती थी।

कृष्णचन्द्र राय ने अपने यूरोपीय मित्रों से सम्बन्ध-विच्छेद करके 'न्यूज ब्यूरो' की स्थापना की। राय के प्रयास के पूर्व वैसे 'इण्डियन न्यूज सर्विस' नाम से एक भारतीय समाचार-समिति स्थापित हुई थी, किन्तु वह भी इसी माने में भारतीय थी कि भारत मे गठित हुई थी। यह भी शासन से ही चिपकी रही। इसकी स्थापना शासकीय कार्यालयों को शासन-सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण समाचार देने के लिए हुई थी। ज्यादा दिनों तक यह भी नही चल सकी।

प्रथम महायुद्ध समाप्त होते-होते 1919 में 'ईस्टर्न न्यूज एजेन्सी' नाम से एक नयी समाचार-समिति स्थापित हुई। इसे रायटर ने ही स्थापित किया था। इसमें तीनों समितियाँ शामिल हो गयीं और नाम वही 'एसोसियेटेड प्रेस ऑफ इण्डिया' रखा गया। कृष्णचन्द्र राय को ही इसका डाइरेक्टर बनाया गया और वह 1931 तक लगातार इसके डाइरेक्टर बने रहे। उनकी मृत्यु के बाद भी एक भारतीय ने ही, जिनका नाम था यू० एन० सेन था, इस पद को सुशोभित किया। सेन भी लम्बी अवधि तक—1949 तक—इस पद पर बने रहे [1949 में इसका अधिकार 'प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया' ने ले लिया]। 'एसोसियेटेड प्रेस ऑफ इण्डिया' का जन्म-स्थान मद्रास नगर था

'एसोसियेटेड प्रेस ऑफ इण्डिया' की स्थापना वस्तुतः रायटर की एक चाल थी। चाल यह थी कि भारतीयों को यह एक राष्ट्रीय समाचार-समिति लगे, किन्तु हित सधता रहे ब्रिटिश साम्राज्य का। रायटर के संचालकों तथा अन्य अंग्रेजों ने प्रचारित भी यही किया कि "यह भारत की सबसे बड़ी घरेलू अभिकरण है।" रायटर इसके माध्यम से भारत के घरेलू समाचार पर पूर्ववत् नियन्त्रण रखता था। बाद में दिखाने के लिए इसमें प्रायः सम्पूर्णत भारतीय पत्रकारों की ही नियुक्ति होने लगी; किन्तु इनका चयन बड़ी होशियारी से होता था। पत्रकारों का प्रशिक्षण भी रायटर की नीति के अनुकूल ही था।

आन्तरिक समाचारों पर भी रायटर के प्रत्यक्ष नियन्त्रण से राष्ट्रवादी भारतीयों को बड़ा असंतोष होने लगा। इसे ही भाँप कर रायटर ने परोक्ष नियन्त्रण के उपाय के रूप मे उक्त समाचार-समिति स्थापित की। रायटर को तथा एसोसियेटेड प्रेस आफ इन्डिया को भारत में पत्रकारिता के शुभारम्भ और विकास की दृष्टि से कुछ श्रेय तो मिलेगा ही, किन्तु इनके साम्राज्यवादी तथा एकाधिकारी स्वरूप की प्रशंसा भारतीयों द्वारा खास, करके राष्ट्र-वादी भारतीयों द्वारा, नहीं हो सकती थी।

किसी भी देशभक्त या राष्ट्रवादी भारतीय ने ग्राहम स्टोरे के उन तमाम दावों को आँख मूँद कर स्वीकार नहीं कर लिया जिनमें एक दावा यह भी था कि "रायटर एक अन्त-र्राष्ट्रीय समाचार-समिति है और इसका समाचारों का प्रस्तुतीकरण राष्ट्रीय पक्षपात से ऊपर है।" इसको एक अन्तर्राष्ट्रीय समाचार समिति मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु 'राष्ट्रीय पक्षपात से ऊपर' होने की बात आपत्तिजनक जरूर थी। ब्रिटेन के प्रति इसका 'राष्ट्रीय पक्षपात' तो बिलकुल स्पष्ट था।

रायटर से अमेरिका को भी शिकायत—रायटर के साम्राज्यवादी स्वरूप तथा उसके 'राष्ट्रीय पक्षपात' पर अमेरिका को भी कभी बड़ी शिकायत रही। यह स्वाभाविक ही थी, क्योंकि उसे भी ब्रिटेन के विरुद्ध स्वातन्त्र्य-संघर्ष करना पड़ा था। अमेरिकी जनता ब्रिटेन के साम्राज्यवादी स्वरूप तथा उसके पक्षपात को उतनी ही स्पष्टता से देख सकती थी जितनी स्पष्टता से संघर्षरत भारतीय। इसीलिए रायटर का भी साम्राज्यवादी स्वरूप वह पहचानने लगी थी। अमेरिकी जनता की तत्कालीन भावना एसोसिएटेड प्रेस आफ अमेरिका द्वारा की गयी निम्नलिखित आलोचना में प्रतिबिम्बित होती है—

"रायटर्स ब्रिटिश सरकार तथा ब्रिटिश साम्राज्य का प्रतिनिधित्व करता है और बहुत ठीक ढंग से उसके हितों का ध्यान रखता है—खास करके संकट के समय। किसी-किसी समय तो कुछ समाचारों का प्रसार इसलिए नहीं होता कि वे साम्राज्य के हित मे नहीं होते।" इस शिकायत से यह भी सोचा जा सकता है कि यह शिकायत वस्तुतः रायटर्स से 'एसोसियेटेड आफ अमेरिका' की प्रतिस्पर्धा के कारण थी; किन्तु यदि यही शिकायत आम जनता को भी थी तो क्यों न माना जाय कि इससे उसी की भावना का प्रतिबिम्ब होता है

'बैरियर्स डाउन' के लेखक केन्ट कूपर द्वारा की गयी ऐसी ही शिकायत को प्रतिद्वन्द्विताप्रेरित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह कोई 'समाचार-पत्र' तो नहीं थे। केन्ट कूपर ने जो आरोप लगाये हैं, उनका खण्डन करने के प्रयास में किसी समय रायटर्स के सर्वेसर्वा माने गये व्यक्ति रोडरिक जान ने अपनी कृति 'ए लाइफ इन रायटर्स' में जो कुछ लिखा है, उसके दो वाक्यों से वह स्वयं फँस जाते हैं। उन्होंने लिखा है—"अब मैं एक महान् उद्देश्य के प्रति सजग हो गया। रायटर्स को न केवल अभिकरणों और समाचार-पत्रों के लिए, बल्कि देश के लिए भी सुरक्षित रखना, मजबूत करना और तैनात रखना चाहिए।" 'देश के लिए' का मतलब 'ब्रिटेन के लिए' ही तो है। अतः वह महान् उद्देश्य भी ब्रिटेन के लिए ही कहा जायगा। ब्रिटेन के अलावा और किसी के लिए उसका कोई उद्देश्य न रहा हो तो इसमें उसकी घोर संकीर्णता तथा उसका पक्षपात ही देखा जायगा। किसी अन्तर्राष्ट्रीय समाचार-समिति का महान् उद्देश्य किसी एक देश का ही हित हो तो उसे क्या कहा जाय? कूपर के दूसरे वाक्य से तो भरपूर प्रहार हो जाता है। वह वाक्य यह है—"रायटर्स सचमुच समाचार-जगत् के चौराहे पर बैठा है और सारे यातायात पर नियंत्रण रखता है।"

इसी प्रकार, 'प्रेस, पार्लियामेंट और पीपुल' नामक पुस्तक में फ्रांसिस विलियम के निम्नलिखित वाक्य से उसके एकाधिकार तथा उसकी अन्य बुराइयों पर काफी प्रकाश पड़ जाता है—"किसी भी तरह का एकाधिकार बुरा है। किसी एक भूखण्ड में समाचारों की आपूर्ति पर एकमात्र ब्रिटिश नियंत्रण खेदजनक रहा। इसी प्रकार अमेरिका या किसी अन्य राष्ट्रीय अभिकरण द्वारा एकमात्र नियंत्रण खेदजनक होगा।"

भारतीय समाचार-समितियाँ

'रायटर्स' के परिचय में हमने 'एसोसियेटेड प्रेस आफ इन्डिया', न्यूजब्यूरो', 'इण्डियन न्यूज सर्विस', 'ईस्टर्न न्यूज एजेन्सी' का उल्लेख किया है। ये सब भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व थी और मुख्यतः साम्राज्यवाद का ही पोषण करती थीं। उस समय तीन और उल्लेखनीय समाचार-समितियाँ थीं 'यूनाइटेड प्रेस आफ इण्डिया' 'फ्री प्रेस आफ इण्डिया' तथा 'ओरियेन्ट प्रेस आफ इण्डिया'।

'यूनाइटेड प्रेस आफ इण्डिया' (यू० पी० आई०) की स्थापना विधुसेन गुप्त ने की थी। राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से 'फ्री प्रेस आफ इण्डिया' नाम से भी एक समाचार समिति स्थापित हुई। 'ओरियेन्ट प्रेस आफ इन्डिया' के पीछे मुस्लिम लीग का हाथ था और यह मुख्यतः उसी के दृष्टिकोण से कुछ दिनों तक चलकर बन्द हो गयी। फ्री प्रेस आफ इन्डिया के संस्थापक थे एस० सदानन्द। इसने रायटर से सम्बन्ध नहीं रखा, किन्तु, लन्दन की एकाधिक अन्य समितियों से 1932 में इसका सम्बन्ध हो गया। यू० पी० आई० भी प्रारम्भ में केवल राष्ट्रीय समाचार एकत्र करती थी। इसने बाद में फ्री प्रेस आफ इन्डिया के अधिकांश कर्मचारियों को स्वयं ले लिया। यू० पी० आई० ने प्रतिद्वन्द्विता में टिके रहने के विचार से टेलिप्रिन्टर लाइन भी लगा ली। भारत में टेलिप्रिन्टर लाइन 1937 में ए० पी० आई० ने चालू की पहले यह मुख्य नगरों तक ही सीमित रही।

प्रेस ट्रस्ट आफ इन्डिया—भारत के स्वतंत्र होने पर 1 फरवरी, 1949 को रायटर ने भारत में अपनी व्यावसायिक सेवा के सम्पूर्ण अधिकार प्रेस ट्रस्ट आफ इन्डिया को दे दिये। किन्तु, उससे एक समझौता भी हुआ जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय समाचार के लिए रायटर पर हमारी निर्भरता बनी रही। इसे यदि हम अपनी राष्ट्रीय दुर्बलता मानें तो अनुचित नहीं होगा। रायटर के ट्रस्ट तथा बोर्ड पर दृष्टि डालें तो हमारी सहभागिता नाममात्र की ही दिखलायी देगी। विदेशी समाचारों के लिए इसने ए० एफ० पी० से भी सम्बन्ध स्थापित किया।

प्रेस ट्रस्ट को समाचार पत्रों द्वारा पोषित सार्वजनिक संस्था मान लिया गया है। इसके 385 ग्राहकों में से 200 तो समाचारपत्र ही थे। उस समय हिस्सा पूँजी पचीस लाख रुपये थी जिसमें 5 लाख निर्गमित पूँजी थी। इसकी व्यवस्था एक संचालक-मण्डल करता है और प्रशासकीय व्यवस्था जेनरल मैनेजर के हाथ में रहती है। जेनरल मैनेजर संचालक-मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है।

1970 तक इसने देश में करीब पचास कार्यालय खोल लिये थे। ये कार्यालय लगभग 35 हजार किलोमीटर टेलिप्रिन्टर-लाइनों से परस्पर सम्बद्ध हो गये। इसकी सेवा तीन प्रकार की, तीन श्रेणियों की, है—ए-सर्विस, बी-सर्विस और सी-सर्विस। 1970 तक के आँकड़ों के अनुसार ए-सर्विस पर पचहत्तर से अस्सी हजार शब्दों के, बी-सर्विस पर पैंतालीस से पचास हजार शब्दों के और सी-सर्विस पर और कम शब्दों के समाचार प्रतिदिन भेजे जाते रहे। ए-सेवा छब्बीस अंग्रेजी और 6 भारतीय भाषाओं के पत्रों ने ले रखी थी। चार अंग्रेजी और छब्बीस भारतीय भाषाओं के पत्रों ने बी-सेवा ली। सी-सेवा लेने वाले अंग्रेजी पत्रों तथा भारतीय भाषाओं के पत्रों की संख्या क्रमशः ग्यारह और एक सौ बारह रही।

यूनाइटेड न्यूज आफ इन्डिया—इसकी स्थापना 1960 में पब्लिक लि० कम्पनी के रूप में हुई। इसकी हिस्सेदारी पत्र-स्वामियों तक ही सीमित रखी गयी। अधिकृत दस लाख रुपये की पूँजी में दो लाख बाईस हजार प्राप्त पूँजी रही। उस समय तक इसके कुल अठारह केन्द्र थे जो टेलिप्रिन्टर-लाइन से जुड़े थे। अन्तर्राष्ट्रीय समाचार के लिए इसने तीन विदेशी समाचार-समितियों से समझौता किया। इनमें रायटर नहीं थी।

हिन्दुस्तान समाचार—यह समाचार-पत्रों को उनकी ही भाषा में समाचार देने के लिए 1948 में स्थापित हुई। अपनी स्थापना से 22 वर्ष के अन्दर यह हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, मलयालम, उर्दू, उड़िया तथा पंजाबी में करीब एक-सौ समाचार-पत्रों को समाचार देने लगी। इसने दिल्ली के अलावा लखनऊ, नागपुर, पटना, जयपुर, चण्डीगढ़, कलकत्ता जालन्धर, पूना और बम्बई में अपने कार्यालय खोल लिये। काठमाण्डू तथा गंगटोक में भी इसके कार्यालय खुल गये। मुख्य कार्यालय दिल्ली में रखा गया। 1957 में हिन्दुस्तान को-आपरेटिव सोसाइटी ने इसे अपने हाथ में ले लिया।

समाचार भारतीय—समाचार भारती की स्थापना 1967 में हुई। अगले तीन वर्षों मे इसने आठ प्रदेशों में 45 समाचार पत्रों को ग्राहक बना लिया। इन्हें इसने हिन्दी मराठी तथा गुजराती में देना शुरू किया। उस समय तक इसने चालीस-पचास टेलिप्रिन्टर किराये पर ले लिये थे—कुछ नागरी लिपि के और कुछ रोमन लिपि के। इसने छोटे

पत्रों को क्षेत्रीय भाषा में समाचार देना अपना उद्देश्य बनाया।

इन्फा—इसकी स्थापना 1954 में हुई। इसने अंग्रेजी के अतिरिक्त हिन्दी, उर्दू, गुजराती आदि कुल नौ भाषाओं पत्रों को अंग्रेजी में समाचार देना शुरू किया। इसके कार्यालय पन्द्रह प्रदेशों की राजधानियों में हैं। 1970 तक इसके ग्राहकों की संख्या 575 हो गयी थी जिनमे एक सौ अखबार थे और बाकी दूसरी संस्थाएँ। उस समय तक टेलेक्स तार या मेल के माध्यम से यह औसत प्रतिदिन 6 हजार शब्द देती थी।

टेलिप्रिन्टर

समाचार भेजने के साधनों में यंत्रीकरण का विकास टेलिप्रिन्टर के आविष्कार से और तेज हो गया। प्रिन्टिंग टेलिग्राफी की प्रगति के साथ ही टेलिप्रिन्टर आया। टेलिप्रिन्टर के पूर्व टेलीफोन के समाचारों को छोड़कर तार से जो समाचार प्राप्त होते थे, वे 'मोर्सकोड' से भेजे जाते थे। टेप मशीन निकल आयी थी। मोर्स संकेत से टेप पर छेद होते थे और छेदों का क्रम देखकर टेप पढ़ने वाले लोग समाचार लिख लेते थे। इस संकेत से एक मिनट मे 30 शब्द भेजे और लिखे जा सकते थे '

टेलिप्रिन्टर का समुचित विकास तथा उपयोग तो प्रथम महायुद्ध के बाद ही शुरू हुआ किन्तु इसका निर्माण अपने प्रारम्भिक रूप में 1912 में ही हो गया था। इसे क्रीड ऐण्ड कम्पनी ने बनाया था। यह पहले हवा के दबाव से चलता था, बाद में इसमें काफी सुधार करके इसे बिजली से चलाया जाने लगा। पहले मोर्स के संकेतों को ही बिजली के धक्कों से अक्षरों में बदला जाता था। बिजली से चलना शुरू होने पर रोमन लिपि के 60 से 140 शब्द तक छपते थे!

सन् 1939 से 1945 के बीच 5 यूनिटों के कोड बने और नयी टेलिप्रिन्टर मशीन बनायी गयी। इनमें 5 लीवर रहते हैं और इनके विभिन्न संकेतों पर टेप में छेद होते जाते हैं। ये ही टेप जब फिर चलाये जाते हैं तो टेलिप्रिन्टर के रिसीवरों में टाइप राइटर की तरह समाचार छपते हैं। एक ही लाइन पर कई समाचार एक साथ भेजने के प्रयोग किये गये, जो सफल रहे। चार तारों के टैलीफोन-सर्किट पर 18 टेलिप्रिन्टर चैनल दोनों ओर चलाये गये—एक ओर से भेजने और दूसरी ओर से पाने का क्रम शुरू हो गया। एक ही समय दो स्टेशनों के बीच 1100 शब्द प्रति मिनट के हिसाब से समाचार आ-जा सकते थे।

टेलिप्रिन्टर टेलिमेकेनिक्स की प्रगति के चरण में एक मुख्य कड़ी है। इसे टेलिग्राफ-प्रणाली, टेलिफोन-प्रणाली और टाइपराइटर का एक समन्वित रूप कहा जा सकता है। प्रिन्टिंग टेलिग्राफी और टेलिमेकेनिक्स के इस युग में टेलीफोन से लेकर टेलिफोटोग्राफी तथा टेल-स्टार संचार-उपग्रह तक की जो प्रगति हुई है, उसमें टेलिप्रिन्टर का उल्लेख आज भी महत्वपूर्ण ढंग से होता है।

टेलिप्रिन्टर के सम्बन्ध में यह सब जानकारी और इससे अधिक जानकारी एक आधुनिक संवाददाता को रखना अनिवार्य है—खास करके उस संवाददाता को जो समाचार-समितियों मे काम करता है या ऐसे अखबार मे जिसकी अपनी लाइन है।

कुछ स्फुट : सरल व कठिन

पत्रकारिता का घोर रतन हो या साधारण उसकी कोई बड़ी विकृति हो या मामूली, वह मँहगी हो या सस्ती, कठिन हो या सरल, अन्ततः उसका दायित्व, उसकी जवाबदेही पत्रकार पर ही आती है। आज गुण भले ही उद्‌घाटित न हो पा रहे हों, विकृति पर उँगली उठायी जाने लगी है। जैसाकि पहले भी एक स्थान पर इंगित है, स्वयं पत्रकारों के बीच कुछ लोग, जो अपने दायित्व तथा कर्तव्य और इज्जत के प्रति सजग हैं और अन्य दृष्टियों से भी प्रबुद्ध हैं, आवाज उठाने लगे हैं––सीधे-सीधे या परोक्ष रूप से या व्यंग्य के माध्यम से अपनी ही बिरादरी की (एक तरह से अपनी भी) आलोचना खुले आम (वाणी से या कलम से) करने लगे हैं।

हलो, कोतवाली ?

ऐसी ही एक आलोचना आज से 29 वर्ष पूर्व 1965 में एक राजस्थानी उदीयमान पत्रकार ने, जो मध्याह्न से पहले ही प्रयाग में आकर अस्त हो गया और प्रबल सम्भावनाएँ अपने साथ लेता चला गया, इलाहाबाद पत्रकार संघ की रजत जयंती के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका में 'हलो, कोतवाली' शीर्षक अपने लेख में की थी। उस युवक का नाम था बजरंग शर्मा।

यह जानने के लिए कि "आज अपेक्षाएँ क्या हैं, किन्तु वस्तुस्थिति क्या है" उक्त लेख के कुछ अंश, जो हम यहाँ उद्‌धृत कर रहे हैं, ध्यातव्य हैं। ये अंश अपने यहाँ के अधिकाश स्थानीय कार्यालय संवाददाताओं की ओर इंगित करते हैं; किन्तु एक तरह से सभी सवाददाताओं की उस स्थिति को बना देते हैं जिससे उनकी वास्तविक सत्ता तथा महत्ता नहीं बनती। वे अंश इस प्रकार हैं––

"जाहिर है कि हम चाहते है, लोकहितार्थ सत्य का उद्‌घाटन करने के लिए संवाददाता 'हाड़मांस की परमितताओं' का अतिक्रमण करे। पर यह अपेक्षा अतिवाद से ग्रस्त और आदर्श किस्म की मालूम पड़ती है। सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों और हाड़मांस की यातनाओं से भला ऊपर उठने की सुविधाएँ भी तो मिलें, अन्यथा एकतरफी अपेक्षाएँ कहाँ तक उचित है।

"सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न विवशताओं और हाड़मांस की कमजोरियों ने आज के संवाददाता को चौतरफा ग्रस लिया है। वह सुरक्षा और सुविधा के रास्ते सुख-यात्रा करने में लगा है। शासन और शासन के दण्ड-बल के प्रतिनिधि पुलिस-विभाग की शहरी धुरी-शहर कोतवाल––के साथ अविसंवादी होकर संवादों के 'प्रामाणिक' संस्करण करने में वह दत्तचित्त हो गया है। दिन भर किसी 'ऐटहोम' या सभा-सम्मेलन में होकर या घर में विश्राम करके हर शाम वह कार्यालय पहुँचता है और कुर्सी पर आराम से बैठकर फोन मिलाता है––'हलो, कोतवाली' और सारे समाचार फोन से दुह लेता है। फिर अतिरिक्त सुरक्षा के लिए अखबारी सावधानी के फार्मूले लगाते हुए 'बताया गया है कि' या 'कथित…' अपराधी कथित या टंकित कर डालता है

सीमा-शुल्क वालों, द्रुतगामी दल कार्यालय और कुछ ऐसे ही और अड्डों को फोन खटखटा लेने के बाद दिन भर का 'नगर-समाचार सर्वेक्षण' पूरा हो जाता है और हमारा संवाददाता 'नगर का सबसे ज्यादा सूचनासम्पन्न' 'जानकार' और 'प्रबुद्ध' नागरिक बनकर अखबारी फार्मूले पर समाचार ढालता जाता है। समाचार के पहले दूसरे और तीसरे अनुच्छेद तो खासतौर पर फार्मूला के साथ प्रतिमान पर ढाले जाते हैं।

समाचारों के पीछे बावले बने फिरना अब भला इस पृष्ठभूमि में बेवकूफी ही नहीं है? कोतवाली से शासनसमर्पित समाचार प्राप्त करने में न कोई परेशानी न प्रकाशित करने मे कोई खतरा? अखबार का प्रकाशक कोतवाली तो होता नहीं; इसलिए अखबार को कोई 'कोतवाली बुलेटिन' समझने की भी गलती नहीं करेगा। बस चतुर्थ सत्ता के कर्णधार और जनतंत्र के 'राजगुरू' का काम चारो खाने चौकस।

आज रिपोर्टर जोखिम से कतराते हैं और इसी से उनमें समाचारों के सन्दर्भ में खोज-मनोवृत्ति का एकांततः अभाव है। जोखिम से तो वे इतना भागते है कि ऐसी किसी अपराध-घटना को देने का साहस ही नहीं करते जिसका पुलिस में 'एफ० आई० आर०' दर्ज न हो। इसी साहसहीनता और 'लगन के अभाव' का परिणाम यह है कि अखबारों में रोज वही 'पिटी-पिटाई' घटनाएँ एक 'रटी-रटायी' भाषा में देखने को मिलती हैं—'मंत्री द्वारा प्याऊ का उद्घाटन', 'लोकप्रिय थानेदार का तबादला' 'मंदिर से जूते गायब' 'मौलवी साहब की बकरी का गौना' आदि आदि।

इन समाचारों से यही तो लक्षित होता है कि जीवन के नये-नये क्षेत्रों में प्रवेश पाकर जरूरत पड़ने पर कठिन-से-कठिन जोखिम उठाकर भी अनुद्घाटित तथ्यों को सामने लाने की लोक-हितैषणा और दिशा-संचेतना से सम्पन्न अन्वेषी वृत्ति का उनमें बुरी तरह टोटा पड गया है। वे जिम्मेदारी से कतराते हैं और घोर निरापद समाचार देकर छुट्टी पा लेना चाहते हैं।

रिपोर्टिंग का काम क्या इतनी निरापदता इतनी सुविधा, इतनी दृष्टिहीनता और इतनी मूढ़ता का काम है? क्या बोर-युद्ध की रिपोर्टिंग के पीछे चर्चिल को गिरफ्तारी तक का जो सामना करना पड़ा था वह उत्सा तिरेक में की गयी सिर्फ मध्ययुगीन वीरतावादी बेवकूफी थी? युद्ध की रिपोर्टिंग में सरकारी बुलेटिनों से ही जब काम चल सकता है तब पत्रकार क्यो जान पर खेलें? इसी तरह अपराधों के पीछे वे क्यों भागते फिरें? उसके लिए सुविधा का रास्ता 'हलो, कोतवाली!' ही है—हर शाम 'हैलो, कोतवाली!'

नया और पुराना

जिस प्रकार हम पत्रकारों में से ही कुछ अपनी नवीनता तथा विशेषता दिखलाने के लिए 'कम्प्यूटर युग' तथा 'इलेक्ट्रानिक पत्रकारिता' की बात करने लगे हैं, उसी प्रकार कुछ और पहले से कुछ पत्रकार दूसरे पत्रकारों को 'पिछड़ गया', 'पुराना पड़ गया' कहकर एक प्रकार का आनन्द लेते हुए संतुष्ट रहते हैं। देखिये, ऐसा समझने की क्या सुन्दर शृंखला है—बम्बई मद्रास दिल्ली तथा दो-चार और महानगरों के पत्रकार [illegible] पूर्वा

भोपाल, चण्डीगढ़, भुवनेश्वर आदि प्रान्तीय राजधानियों और इलाहाबाद, वाराणसी, आगरा, नागपुर हैदराबाद आदि के पत्रकारों को अपने से पिछड़ा मानते हैं। इसी प्रकार प्रायः सभी शहरी पत्रकारों में देहाती पत्रकारों को पिछड़ा और 'पुराना पड़ गया' मानने की एक खोखली प्रवृत्ति पैदा हो गयी है।

ये अपने-आप नये बन गये लोग 'नयी पत्रकारिता' की भी चर्चा खूब करते हैं, जबकि अपने' इस विषय पर बोलने से कतराते हैं और 'नयी पत्रकारिता' पर कोई कृति नहीं प्रस्तुत कर सके हैं। इन सबके समझने की बिलकुल नयी बात यह है कि जब तक 75 प्रतिशत से अधिक पत्र-पत्रिकाओं के संचालक स्वयं नयी पत्रकारिता का कोई अर्थ नहीं समझते और आधुनिक पत्रकारिता में अग्रणी देशों के पत्र-संचालकों की सूझबूझ तथा उनके संचालन-सम्पादन-दृष्टिकोण से दूर पड़े रहते हैं तब तक यहाँ के इन पत्रकारों का 'नयी पत्रकारिता का अलाप' कोई नहीं सुनेगा और उसका कोई अर्थ भी नहीं होगा।

केवल इसलिए कि "पचास-साठ वर्ष पहले की स्थिति में काफी परिवर्तन हो गया है, नवीनतम तकनीक, प्रयोग, साधन आदि का आंशिक प्रवेश हो गया है और वे दस-पाँच प्रतिशत पत्र-पत्रिकाओं में देखे जा सकते हैं", किसी पिछड़े या विकासशील देश की सम्पूर्ण पत्रकारिता और वहाँ के सारे पत्रकारों को किसी नये अर्थ में आधुनिक कैसे मान लिया जाय? यदि आधुनिकतम पत्रकारिता का सम्पूर्ण चित्र और अपने देश की पत्रकारिता की स्थिति का भी चित्र रखकर इन्हें सही-सही ज्ञान करा दिया जाय तो ये सिर झुकाकर मान लेने के लिए बाध्य हो जायेंगे कि वे स्वयं कम पिछड़े नहीं हैं।

विकसित देशों में आधुनिकता के अन्तर्गत क्या-क्या आता है—यह गिनाना उन्हीं लोगों का काम है जो आधुनिकता का नकली जप करते-फिरते हैं। इन आधुनिकतावादी भारतीय पत्रकारों को यह जानना होगा कि आधुनिकता के अन्तर्गत एक ओर जहाँ साधनसम्पन्नता तथा सुविधाएँ बहुत आ गयी हैं, वहीं दूसरी ओर पत्रकारों को, खास करके संवाददाताओं को, बड़े से बड़े संकट का सामना करने और साहसिकता का परिचय देने के लिए हर क्षण तैयार भी रहना पड़ता है। निश्चय ही इसके लिए प्रोत्साहन तथा पुरस्कार की भी एक स्थिति होती है। क्या यहाँ ऐसी कोई स्थिति संचालकों ने या इन भ्रान्त आधुनिकतावादियों ने बनायी है?

यहाँ तो मैं पचास वर्ष की अपनी पत्रकारिता-यात्रा में यही देखता आया हूँ कि लोग चाहते हैं कि "सब-कुछ सस्ते में हो जाये; बिना किसी कठिनाई का सामना किये हम चोटी पर पहुँच जायें। तुलसीदास के शब्दों में यहाँ तो हर क्षेत्र में यही नजर आता है "साधन बिनु सिद्धि सकल विकल लोग लपत" [सभी लोग बिना किसी साधना के ही लपक कर सिद्धि पा जाना चाहते हैं] आधुनिकता का स्वयं अध्ययन करने का श्रम किये बिना उसको जानने के लिए कुछ दौड़-धूप किये बिना केवल 'आधुनिकता का रंग गांठने' से आधुनिकता का आचार्य कोई नहीं हो सकता। यह बात गाँव के पत्रकारों द्वारा ही शहरी पत्रकारों को बतायी जायेगी, क्योंकि उन्हें पिछड़ा माना गया है (यों ही)।

आधुनिकता के ही प्रसम में [illegible] हराम हैं' की उक्ति भी सुन ली जाय और

से सम्पर्क करके उनके माध्यम से जो कुछ साहित्य उपलब्ध हो उसे प्राप्त किया जाय और यदि इसमें भी कष्ट और संकोच होता हो और इसके लिए पत्रव्यवहार ही करने में आलस्य होता हो तो इन्हें आधुनिकता पर बोलने का कोई अधिकार नहीं। पत्रकार के लिए, खास करके संवाददाताओं के लिए, लेखक-पत्रकारों के लिए 'आराम हराम है' कि उक्ति कोई नेहरू के समय की नहीं है, बहुत पहले की है। यहाँ आरामतलबों का काम नहीं। यदि नन्द कुमार देव शर्मा के शब्दों में "अपने यहाँ न संवाददाताओं की चेष्टा है न संचालकों का ध्यान इस ओर गया है और इधर-उधर के समाचार भेजकर छुट्टी पा ली जाती है" तो यहाँ 'आराम हराम' एक आदर्श कैसे बन सकता है? "आराम से 'बड़े पत्रकार' बन जाइये, आराम से यहाँ-वहाँ पहुँच जाइए और आराम से पुरस्कृत हो जाइये" यही यदि चलता रहा तो हम सबके-सब पिछड़े ही रह जायेंगे; इस लायक भी नहीं रह जायेंगे कि आपस में ही एक-दूसरे पर, अपनी-अपनी एक-एक दो-दो वाक्यों की कोई विशेषता लेकर, रंग गाँठ सकें।

एक फटकार

1973-74 में 'चाकरी न करने का संकल्प करके सक्रिय पत्रकारिता से अलग हो जाने के बाद' मैं पत्रकारों के दिमाग का अध्ययन करने के लिए दो-एक दैनिक पत्रों के कार्यालयों में, जहाँ मेरे दो-चार हमउम्र सुपरिचित पत्रकार थे, पहुँच जाता था। एक दिन एक पत्र के युवा साहित्य-सम्पादक से मेरी मुठभेड़ हो ही गयी। वह अपना कक्ष छोड़कर वहाँ आ बैठे थे, जहाँ मेरे एक सुपरिचित हमउम्र साथी बैठते थे। वहीं एक अध्यापक-संवाददाता, जो पहले शहर के एक कालेज में अध्यापक थे और अब ग्रामीण पत्रकार (संवाददाता) का काम करने लगे थे, पहले से बैठे थे। बात कुछ 'नये और पुराने' की छिड़ गयी थी।

ग्रामीण पत्रकार के किसी समाचार को लेकर उन्हीं की ओर रुख करके साहित्य-सम्पादक बोल पड़े "अब आप लोग पुराने पड़ गये हैं।" उस समाचार का सम्पादन इन्हीं युवा पत्रकार महोदय ने किया था—दो-तीन सप्ताह पहले जब वह जिलों के समाचारों की मेज पर काम करते थे। कहा तो था उन्होंने उन ग्रामीण पत्रकार से; किन्तु बुरा मुझे लग गया—उससे कहीं ज्यादा जितना उन्हें लगा होगा।

मैं बोला "बेटा!" फिर उसी साँस में पूछा कि "बेटा कहने से तुम्हें बुरा तो नहीं लगा?" उत्तर मिले बिना मैं कहता गया "देखो, तुम्हारी उम्र से अधिक उम्र का मेरा बेटा है और उसकी चार सन्तानें भी हो गयी हैं। इसलिए मैंने सहज भाव से ही 'बेटा' कहा है। तुम मेरे बेटे के ही समान हो।" इतना कहकर जरा साँस लेने के लिए मैं रुका कि वह आज के एक युवा तेवर में या अपने नये पद के रोब में बोला "अच्छा कहिये, आप क्या कहना चाहते हैं?"

मैं भी कुछ उसी तेवर में बोला—"धीरज रखकर पाँच मिनट, सिर्फ पाँच मिनट, सुनेंगे, आप? ('तुम' संबोधन मैंने त्याग दिया)। देखिए, पहली बात तो यह है कि बूढ़ा होने से कोई पुराना नहीं पड़ता। हाँ, यदि वह बूढ़ा धारा के साथ नहीं है, उसके विपरीत तैरने की कोशिश करता है, तो उसे जरूर 'पुराना पड़ गया' कहा जायेगा। इसी प्रकार कोई युवक केवल इसीलिए आधुनिक नहीं कहलायेगा कि वह युवक है [illegible] आधुनिक [illegible] में आप

रह रहे हैं, उसी में हम बूढ़े भी। किन्तु, समझ लीजिये ! यदि आप यह नहीं जानते कि कोई समाज या को: युग कुछ आधारभूत आर्थिक नियमों तथा सम्बन्धों से अनुशासित और नियंत्रित होता है तो आप पिछड़े कहलायेंगे और न आप इस युग का साथ दे सकेंगे और न यह युग आपका साथ देगा। आइन्दे से यों ही किसी बूढ़े को 'पुराना पड़ गया' मत कहना।"

उसने मेरी बात को उस तरह नहीं लिया जिस तरह किसी जिज्ञासु विनीत और नीतिकुशल पत्रकार को लेना चाहिए। वह तो 'आधुनिक नौजवान' था। उसने मेरी बात को अपने लिए पराजय की भावना से ही लिया और हुज्जत पर आमादा हो गया था। यह तो कहिये कि मेरे पत्रकार-मित्र ने उसे टोका जो वह चुप हो गया।

अन्यान्य जीवों के गुण

संवाददाता का काम सचमुच कठिन है। इसके लिए कुछ सहजयोग्यताओं तथा गुणों की भी अपेक्षा की जाती है। या फिर, श्रमसाध्य प्रतिभा के रूप में उन योग्यताओं तथा गुणों को अर्जित करने के लिए संवाददाता को स्वयं प्रयत्न करना होगा; गुरुजनों के पास बैठना होगा और आधुनिकता जैसी बातों के झूठे दंभ तथा भ्रम से बचना होगा। इनसे बचने के लिए उसे अपने से पूछना होगा "क्या अपने में समाचार-इन्द्रिय नाम की एक चीज का विकास किया है या उसकी कोई चर्चा ही सुनी है?" इस शब्द का प्रयोग विकेम स्टीड ने किया था। उन्होंने कहा था "सफल संवाददाताओं में एक समाचार-इन्द्रिय होती है।" विकेम स्टीड ने एक सलाह के रूप में कुत्तों का गुण ग्रहण करने को भी कहा है। उनके शब्द ये हैं—"संवाददाता घटनाओं तथा परिस्थितियों के पीछे कुत्ते की तरह लगा रहे।"

'घटनाओं और परिस्थितियों के पीछे लगे रहना' कोई मामूली बात नहीं है, बड़ा कठिन कार्य है यह। यहीं 'आराम हराम है' लागू होता है और यहीं अपने आलस्य को दूर करने की आवश्यकता महसूस होती है। समाचार के पीछे कुत्ते की तरह लगे रहने का मतलब 'समाचारत्व' के बोध के साथ लगा रहना और लगे रहने वाला राजनीतिक अध्ययन' भी होता है। जिस संवाददाता को समाचार-इन्द्रिय होती है वह अपने लिए इस 'कुत्ता' शब्द के प्रयोग से ना_ज नहीं होगा। यहाँ कुत्ते के कुछ और गुणों की ओर ध्यान जाता है। पीछे लग जाने के अलावा पता लगाने और जरा-सी आहट लगते ही जाग जाने के भी गुण कुत्ते में होते हैं। संवाददाताओं से इन गुणों की अपेक्षा की जाती है। जरूरत पड़ने पर दुम दबाकर भाग निकलने का एक और गुण संवाददाता को ग्रहण करना पड़ता है।

कुत्ता के अलावा बिल्ली, चींटी, बाज तथा उल्लू के भी गुण संवाददाताओं में होने चाहिए। बिल्ली दबे पाँव आती है और दूध पीने या चूहे का शिकार करने का काम करके निकल जाती है। इसी प्रकार संवाददाता अनेक गोपनीय समाचारों की या दबा कर रखे गये समाचारों की 'चोरी' कर ले जाता है। लेकिन उसे चोर नहीं कहा जा सकता। चींटी की घ्राण-शक्ति बहुत तेज होती है। उसी प्रकार संवाददाता अपनी समाचार-इन्द्रिय से समाचार सूंघ लेता है—जैसा कहा जाता है। और उसे प्राप्त करने के लिए वह दौड़ पड़ता है। कोई कुशल संवाददाता बाज और उल्लू भी होता है। जिस प्रकार बाज झपट्टा मारने और शिकार करने में बहुत तेज होता है उसी प्रकार संवाददाता से यह अपेक्षा की जाती है कि समाचार प्राप्त करने में उसे झपट्टा मारने और शिकार करने की-सी कला प्राप्त हो। वह उल्लू इसलिए होता है कि उसे अँधेरे में भी सूझता है, यानी जो बात औरों को नहीं सूझती वह संवाददाता को सूझ जाती है।

ग्रामीण पत्रकार

(द्वितीय खण्ड)

विभाजन–रेखाओं के बीच

पिछले कुछ वर्षों से ग्राम्य क्षेत्र के पत्रकारों में, खासकरके हिन्दी भाषी ग्राम्य क्षेत्र के पत्रकारों में, कुछ अधिक सक्रियता आ गयी है। जिला-स्तर तथा तहसील-स्तर के जितने सम्मेलन तथा प्रशिक्षण-शिविर ग्रामीण पत्रकारों के आयोजित हो रहे हैं उतने के चतुर्थांश भी शहरी पत्रकारों के नहीं हो पा रहे हैं। इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में संवाददाताओं की जो सत्ता और महत्ता दिखलायी है उनमें तीन बातें प्रमुख हैं जिन पर यहाँ फिर ध्यान दिला देना आवश्यक तथा प्रासंगिक हो गया है। 1. ग्रामीण पत्रकारों का संख्या-बल सर्वाधिक 2. इसी सख्या-बल से एकाधिक अखिल भारतीय पत्रकार संगठनों में ग्रामीण पत्रकारों की पूछ 3 अपने क्षेत्र में किसी ग्रामीण-पत्रकार का जितना और जैसा सम्पर्क तथा परिचय उतना और वैसा शहरी क्षेत्र के पत्रकारों का (कार्यालय संवाददाता तथा स्थानीय संवाददाता को छोड़कर) अपने आस-पास भी नहीं।

अन्य बातों के साथ इन तीन प्रमुख बातों को लेकर ही संवाददाताओं की, जिनमें गाँवों के संवाददाता बहुत अधिक हैं, सत्ता तथा महत्ता दिखलायी गयी है। किन्तु इस सत्ता और महत्ता की स्थिति को इन दोनों के अनुरूप सार्थक तथा ठोस बनाने के लिए इन संवाददाताओं को पूरे पत्रकार-समुदाय के बीच खिचती आयी अनेक विभाजन-रेखाओं को भी देखने-समझने की पूरी कोशिश करना चाहिए। प्रथम खण्ड में विभाजन-स्तरों का जो वर्णन तथा विवेचन विस्तार से किया गया है उनकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए यहाँ विशेषतः ग्रामीण संवाददाताओं के ही प्रेरणार्थ कुछ और जोड़ देना आवश्यक प्रतीत होता है।

पहले मैं पूरी पत्रकारिता में ही विभाजन-रेखाओं का विषय लेता हूँ। जहाँ तक पत्रकारों को अलग रखकर मात्र पत्रकारिता का सम्बन्ध है, वह अपने में एक विशेष विषय है, जिसे मैं 'विषयों का विषय' या 'महाविद्या' मानता हूँ। मेरा ऐसा मानना, जैसाकि मैंने अन्यत्र अच्छी तरह समझा दिया है, गलत नहीं है। मैं इसे कुछ-कुछ अविभाज्य या अखण्ड विषय के रूप में भी देख सकता हूँ। मेरा मानना है कि यदि सब कुछ प्राप्त कर लेना सम्भव न हो तो काफी पा लेने के लिए मनुष्य को अपने सामने ऊँचा से ऊँचा लक्ष्य रखना चाहिए। इसीलिए को विषयों का विषय और -सा देखने का एक विचार मैंने पकड़ रखा है

अलग विकास-गति तथा साधनपूर्णता व साधनहीनता को लेकर बने उनके स्तरों के अनुसार ही जाने कितनी विभाजन-रेखाएँ खिंच सकती हैं और खिंच गयी है; किन्तु इससे पत्रकारिता के ही विभाज्य हो जाने का निष्कर्ष निकालना कुछ गलत होगा।

सोद्देश्यता, आदर्श, सिद्धान्तनिष्ठा, सिद्धान्तहीनता, अलग अलग क्षेत्रों की अलग-अलग विकास-स्थिति अन्तर्निहित या क्रमश: आते-जाते रहने वाले गुण दोष आदि के विचार से पत्रकारिता के स्तर तो अनेक हैं और रहेंगे भी; किन्तु इन सबसे पत्रकारिता के नाम अलग-अलग नहीं पड़ जाते या परिभाषाएँ अलग-अलग नहीं हो जाती; किन्तु विभाजन-रेखाएँ होना एक बात है और पत्रकारिता का विभाजित या अविभाज्य होना दूसरी बात है।

पत्रकारिता की परिभाषा करने में मोटी-पतली विभाजन-रेखाओं पर नजर तो रखना ही पड़ता है। किन्तु, यदि इन विभाजन-रेखाओं के ही अनुसार परिभाषा की जाये तो तमाम परिभाषाएँ-परिभाषाएँ हो जायेंगी और फिर पत्रकारिता की परिभाषा के और सूत्र छूट जायेंगे और पत्रकारिता अपरिभाषित रह जायेगी। पत्रकारिता की एक से अधिक परिभाषा जरूर हुई है, किन्तु उनकी ऐसी भरमार नहीं हो गयी है कि पत्रकारिता को 'अपरिभाषित' कहा जाये।

वैसे तो पत्रकारिता की परिभाषा के मुख्य सूत्रों मे सबसे पहला स्थान पत्रकार का ही आता है। किन्तु पत्र-पत्रिकाएँ, उनके संचालक और पत्रकारिता की सम्पूर्ण अच्छी बुरी तथा परिवर्तित होती स्थिति भी परिभाषा के मुख्य सूत्र हैं। इस परिभाषा में पत्रकारों के बीच की विभाजन-रेखाओं को पत्रकारिता में खिंच गयी विभाजन-रेखाओं से कुछ अलग रखना होगा। आज तो पत्रकारिता की परिभाषा से पत्रकार की परिभाषा अलग पड़ गयी दिखलायी देती है।

पत्रकारों के बीच विभाजन-रेखाएँ कहीं-कहीं इतनी मोटी हो गयी दिखलायी देती हैं कि लगता है पत्रकार की किसी एक या दो-चार और परिभाषाओं से काम नहीं चलने का। पत्रकारों की निश्चित रूप से अनेक श्रेणियाँ हैं या हो गयी हैं और उनके अनुसार तथा कुछ और तथ्यों को लेने पर उन श्रेणियों से अधिक स्तर हो गये है, जैसाकि प्रथम खण्ड में देखा जा सकता है। इनसे स्पष्ट है कि सभी पत्रकारों के लिए कोई एक सामान्य परिभाषा नहीं बन सकती।

एक ओर जब आदर्शों, सिद्धान्तों तथा सोद्देश्यता की ऊँचाई की, चौथी सत्ता की और 'स्वाध्याय अध्ययन मनन तथा चिंतन की निरन्तरता' की बात कही जाती है तब जो परिभाषा बनती है वह हवाई या अधिकांश पत्रकारों के लिए दुरूह होकर रह जाती है। दूसरी ओर सामान्य रूप से पूर्ण पत्रकार कहलाने के लिए जो एक कुछ व्यावहारिक परिभाषा हो सकती है वह भी अनुपात में बहुत कम लोगों तक सीमित रह जाती है। उक्त परिभाषा यह है—"पूर्ण पत्रकार वह है जिसने किसी औसत दर्जे के अच्छे दैनिक मे हर मेज पर बैठकर कम से कम पाँच वर्षों तक काम कर लिया हो।

दूसरी परिभाषा 'सामान्यतः पूर्ण' बनने के इच्छुक पत्रकारों को और अच्छे पत्रों में सभी मेज़ों के काम का अनुभव करके बैठे पत्रकारों को बिल्कुल सही और व्यावहारिक लगेगी; किन्तु जैसा-तैसा पत्र निकाल कर रातों-रात उसके प्रधान सम्पादक तक बन बैठे, अदृश्य रूप मे निकलने वाले असम्पादित पत्रों के ही सम्पादक या संवाददाता हो गये या एक औसत दैनिक मे काम करने का अवसर पाने से वंचित रह गये लोगों को प्रिय नहीं लग सकती।

पूर्ण पत्रकार की परिभाषा उन लोगों को भी अपनी परिधि से अलग रख देती है जो दैनिक की सभी मेजों पर बैठे बिना, उनके अनुभव प्राप्त किये बिना ही पूर्ण वेतनभोगी, पत्र से पूर्णतः सम्बद्ध, कार्यालय-संवाददाता, कार्यालय-प्रतिनिधि या स्थानीय संवाददाता हो जाते है और अन्त तक संतोषपूर्वक उसी पर बने रह जाते हैं। यह बात दूसरी है कि जैसे और बहुत से लोग बिना साधना के ही सिद्धि पा जाते है वैसे इन्हें भी बड़ी सिद्धियाँ पाने का अवसर मिल जाता है। इसी प्रकार पूर्ण पत्रकार की उक्त परिभाषा के अनुसार मासिक पत्रिकाओं साप्ताहिक तथा पाक्षिक पत्रों के भी अनेक पत्रकारों को परखा जायेगा।

इन दूसरी तरह के लोगों में मैं ग्रामीण पत्रकारों को शामिल नहीं करना चाहता। उन्हें यह दूसरी परिभाषा यदि बहुत प्रिय या अपने अनुकूल नहीं लगेगी तो अप्रिय भी नही लगेगी और शायद इन्हें पूर्ण पत्रकार कहलाने की ऐसी कोई इच्छा भी नहीं रह गयी है और वे मात्र पत्रकार उपाधि से संतुष्ट रहते हैं।

ग्रामीण पत्रकारों ने अपने अलग संगठन बना लिये हैं, किन्तु अभी तक उन्होंने अपनी पत्रकार-उपाधि में 'ग्रामीण' शब्द नहीं जोड़ा है ग्रामीण पत्रकारों के संगठन जिस तेजी से बढ़ते दिखलायी दे रहे हैं वह (तेजी) यदि उन्हें किसी ऊँचाई तक पहुँचा सकी तो हो सकता है वे ग्रामीण शब्द से गौरवान्वित होकर अपने पत्रकार विशेषण के पहले ग्रामीण और जोड़ लें। किन्तु, अभी ऐसा प्रतीत होता नही मालूम पड़ता।

सम्प्रति जैसे किसी को अपने नाम के आगे 'पूर्ण पत्रकार' लगाना अच्छा नहीं लगेगा, हास्यास्पद मालूम होगा, वैसे ही ग्रामीण पत्रकारों को सबल ग्रामीण पत्रकार संगठनों से जुड़े होने पर भी 'ग्रामीण पत्रकार' कहलाना अच्छा नहीं लगेगा, हास्यास्पद मालूम पड़ेगा। हाँ, जहाँ-तहाँ जब तब किसी को उस भाषा का पत्रकार कह दिया जाता है जिसके माध्यम से वह पत्रकारिता करता है। कभी भाषाई भावना को लेकर सम्मान की दृष्टि से, तो कभी उक्त भाषा से विरोध होने के कारण 'छोटा दिखाने की दृष्टि से' अमुक भाषा का कहकर परिचय दिया जाता है। एक बार किसी आयोजन में मुझे सम्मान की ही भावना से 'हिन्दी का पत्रकार' कह दिया गया; किन्तु मैं कुछ बिगड़ उठा और एक छोटा-सा लेक्चर अलग से "इसी पर दे डाला। अन्त में मैंने कहा "भाइयों! मुझे एक भाषा का पत्रकार कहकर सीमित क्यों कर देते हो। मुझे मात्र 'पत्रकार' कहिए। पत्रकार की साधना पत्रकारिता में होती है, भाषा तो बस एक माध्यम का काम करती है; मुझे मात्र पत्रकार कहलाना अधिक पसन्द है।

ग्रामीण पत्रकारों को और की इन्हीं विभाजन रेखाओं तथा

परिभाषाओं के बीच अपनी सम्पूर्ण स्थिति, समस्याओं और यथार्थताओं का अध्ययन-विश्लेषण करना होगा और जैसे बहुत-सी बातें यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ हो गयी हैं वैसे अपनी सत्ता और महत्ता की यथार्थता के अनुरूप संघर्ष करते हुए अपना पत्रकार नाम सार्थक करना होगा; इस नाम की लाज रखनी होगी। अपनी पत्रकारिता की पचास वर्ष की अवधि के पूर्वार्द्ध तक मैंने संवाददाताओं के बहुमत के प्रति जो रुख अपना रखा था उसके विपरीत उत्तरार्द्ध में उनकी सत्ता और महत्ता हृदय से स्वीकार करके ही अंततः बिरादरी (पत्रकारिता बिरादरी) की भावना से, उनका व्यक्तित्व ऊँचा देखनी की कामना से, 'संवाददाता : सत्ता और महत्ता' पुस्तक ही प्रस्तुत कर दी।

संवाददाताओं में बाहुल्य ग्रामीण संवाददाताओं का ही है और यदि पत्रकारों की कोई शक्ति (एक वाहिनी की तरह) बन सकती है तो ग्रामीण पत्रकारों से ही; किन्तु जैसे मैंने उनकी सत्ता और महत्ता स्वीकार की है, वैसे ही उन्हें मेरा यह निवेदन स्वीकार करना पड़ेगा या करना चाहिए कि वे जिन यथार्थताओं में रह रहे हैं और जो स्थिति भोग रहे हैं, उन्हीं में रहते हुए सचमुच कुछ बड़ा बनने की एक कोशिश करें।

जो ग्रामीण पत्रकार, अदृश्य रूप में निकलने वाले पत्रों के विरुद्ध नियमित रूप से निकलने वाले (बाजार में दिखलायी देने वाले) पत्रों से सम्बद्ध हैं और अपने-अपने पत्र के कार्यालय में आते-जाते रहने से पत्र-सम्पादन की कुछ बातें मोटे तौर पर जान गये हैं वे पत्रकार कहलाने के अधिकारी हो गये हैं। उन्हें नाम-मात्र का पत्रकार नहीं कहा जा सकता। प्रथमतः इन्हीं की सत्ता और महत्ता स्वीकार की गयी है।

शहरी और देहाती

यद्यपि किसी को शहरी और किसी को देहाती पत्रकार कहना कम से कम मुझे तो अच्छा नहीं लगता और सौभाग्य से ऐसा कहने का कोई प्रचलन नहीं हुआ है, तथापि कुछ पत्रकारों को शहरों में ही और कुछ को गाँवों में ही सीमित देखकर एक यथार्थता के रूप मे उन पर जब कुछ लिखना होता है तो शहरी पत्रकार और ग्रामीण पत्रकार कहना पड़ता है। विकसित देशों में जहाँ शहरीकरण बहुत हो गया है और शहर तथा देहात के लोगों में बहुत ज्यादा अन्तर नहीं रह गया है वहाँ भी कुछ पत्रकार को 'ग्रामीण' विशेषण मिला हुआ है।

ग्रामीण पत्रकारों पर विचार करने का काम जब कोई मेरे-जैसा 'अग्रामीण' लेता है तो उसे सोचना पड़ता है कि वह कहाँ से शुरू करें और कहाँ समाप्त करें। शहर में रहते हुए और अनेक पत्रों में काम करते हुए ग्रामीण पत्रकारों से सम्पर्क तो अच्छा हो गया है। किन्तु गाँवों में भी कुछ समय बिताकर उन्ही के बीच रहकर उनको ठीक-ठीक समझने-समझाने का अवसर नहीं मिला। इधर पिछले दस वर्षों से, 'सठिया जाने के बाद, ग्रामीण-पत्रकारों के बीस-पचीस आयोजनों से कुछ लोग मुझे पकड़कर जरूर ले गये। किन्तु, इससे कोई खास गैर-किताबी अध्ययन स्वयं नहीं हो सका।

मैंने कुछ ''पूर्ण पत्रकारों' से —जिनका गाँवों से पैतृक सम्बन्ध है, निवास भी है, जिनकी खेती-बारी भी है और जिनका शहर-गाँव में बराबर आना-जाना लगा रहता है—ग्रामीण पत्रकारों पर कोई पुस्तक लिखने का निवेदन किया, सहयोगी लेखक बनने को भी कहा; किन्तु उनमें से जब सबने मुझे निराश कर दिया तब स्वयं लिखने बैठ गया और संवाददाता सत्ता और महत्ता पुस्तक प्रस्तुत कर दी। यह पूरी पुस्तक ग्रामीण संवाददाताओं की बहुलता को दृष्टि में रखकर उन्हीं की सेवा में लिखी कही जायेगी। और अब इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण में उनके ही नाम लेकर कुछ और जोड़ दे रहा हूँ। आशा है प्रारम्भ और समापन कुछ प्रिय ही लगेगा।

पत्रकारिता और पत्रकार की परिभाषाओं तथा विभाजन-रेखाओं पर ऊपर जितना-कुछ लिख दिया है; अपना विचार बता दिया है, उसके बाद मुझे तो ग्रामीण पत्रकारों की अलग से कोई परिभाषा करके ही आगे बढ़ना उचित नहीं लगता। वैसे मैंने कह दिया है कि जो-जो विभाजन-रेखाएँ हैं उनके बीच पत्रकार अपने को रखकर देख लें। ऐसा करके उनमें से कोई यदि अलग परिभाषा बनाना चाहे और बना सकता हो तो बना ले।

ग्रामीण पत्रकारों पर विचार करते समय सबसे पहले वे परिस्थितियाँ सामने आकर खड़ी हो जाती है, जो शहरों में है, किन्तु गाँवों में बिल्कुल नहीं हैं या नाम-मात्र की हैं। समाचारों की दृष्टि से शहर घटनाओं से भरे होते हैं और गाँवों में उनका नितांत अभाव होता है उधर सड़कों तथा गलियों का जाल बिछा है तो इधर बस दो एक सड़क और गली-गिनी

गलियाँ ; उधर साइकिलों स्कूटरों रिक्शों टेम्पों जीपों कारों व ट्रकों का सूर्योदय से सूर्यास्त के बाद घंटों तक दौडते रहना और इधर वाहन के नाम पर बस कुछ साइकिलें। शहरों में राजनीतिक, सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक हलचल, नेताओं का आना-जाना और पत्र-पत्रिकाओं का निकलना लगा रहता है इन सबसे जाने कितने समाचार बनते हैं और साथ ही दूर-दूर के समाचार मालूम होते हैं, गाँवों में ये सब कहाँ ?

हाँ, आकस्मिक दैवी घटनाएँ गाँवों में भी घट सकती हैं—जैसे गाँव के पास की किसी नदी में नाव-दुर्घटना, अग्निकांड, बाढ़, तूफान आदि। मानवकृत घटनाएँ जैसे सवर्णों और सवर्णेतरों के बीच संघर्ष में बहुतों का हताहत होना, भारी डकैती आदि। किन्तु, ग्रामीण न्यस्त स्वार्थवालों, पुलिस के पक्षपात तथा उसकी ज्यादतियों के कारण, प्रायः सर पर उनके सवार रहने के कारण, गाँव के संवाददाताओं की रिपोर्टिङ्ग में साहस और निर्भयता प्राय उतनी भी नहीं आ पाती जितनी शहर के संवाददाता दिखला ले जाते हैं। वैसे तो शहरो मे भी न्यस्त स्वार्थ वालों तथा दूसरे प्रभावशाली एवं रोब-दाब वालों के विरुद्ध साहसिकता तथा निर्भयता बढ़ाने वाली कोई खास शक्ति पत्रकार अर्जित नहीं कर सके हैं। किन्तु, कुछ निर्भीकता दिखलायी दे जाती है। गाँवों के पत्रकारों में साहस तथा निर्भीकता का परिचय कुछ अपवाद स्वरूप ही मिलता है। यह साहस या निर्भीकता पर आक्षेप नहीं है, ग्रामीण परिस्थिति पर ही है।

गाँवों की जो एक अलग परिस्थिति सामन्तों, और सामन्ती प्रवृत्तियों—खास करके ऊँच-नीच की—के कारण अभी भी अधिकांशतः बनी है उसके विरुद्ध पत्रकारों की सामूहिक निर्भयता तथा साहस लाना एक क्रान्तिकारी कार्य है, जो केवल पत्रकारों के बस का नहीं है। वह एक क्रान्तिकारी चिन्तन तथा कर्म की बात है। क्या ग्रामीण पत्रकार इस चिन्तन की ओर अभिमुख हैं ? यह एक जटिल प्रश्न, एक जटिल समस्या है। स्वयं ग्रामीण पत्रकारों में से कुछ प्रबुद्ध पत्रकार यह देखकर चिन्तित रहते हैं और कभी-कभी अपने मंचों से व्यक्त भी कर देते है कि "बड़े लोगों के ही चारों ओर मंडराने की प्रवृत्ति में कोई खास कमी अभी तक नहीं आई मालूम पड़ती" इसके साथ ही इन लोगों से भय और इनके आतंक या "अदब की भी बात आती है जिसे ग्रामीण संवाददाताओं ने 'स्वयं स्वीकार किया है। ग्रामीण सम्भ्रान्तों के कोप से बचे रहकर गाँव के जो समाचार बनते हैं उनकी रिपोर्टिङ्ग में भी कम से कम पचास प्रतिशत सवाददाताओं का भय दिखलायी दे जाता है। और यदि सम्भ्रान्त परिवारों के ही कुछ सदस्य सवाददाता हो गये तो ये औरों की अपेक्षा अधिक पढ़े-लिखे और सूझ-बूझ वाले होने पर भी वैसी निष्पक्षता तथा निर्भयता का परिचय नहीं दे पाते जैसी अपेक्षित होती है।

कभी-कभी या किसी खास मौके पर किसी बड़े काण्ड के अनुवर्ती समाचार लेने के लिए शहरी संवाददाता भी गाँव पहुँच जाता है और किसी भी कोप से बचे रहकर अनुवर्ती समाचार की रिपोर्टिङ्ग में स्थानीय ग्रामीण संवाददाताओं से बाजी मार ले जाता हैं। किन्तु; इसमें ऐसी कोई खास साहसिकता या निर्भीकता की बात नहीं होती। उन्हें क्या गाँव में रहना पड़ता है ? लिया और निकल आये

इसके बाद हम साधनों की बात पर आते हैं। रिपोर्टिङ्ग के लिए वाहन, टेलीफोन, तार तथा सुसम्पर्क की व्यवस्था न सही, एक कोई सामान्यतः निष्पक्ष सम्पर्क की तो हो। इस आवश्यकता की चर्चा संवाददातागण पचास वर्षों से करते आये हैं। किन्तु, समस्या लगभग जहाँ की तहाँ धरी है। सरकार की ओर से साधन तथा सुविधा में सुधार तथा वृद्धि का दावा कुछ किया जा सकता है और किया भी जाता है; किन्तु क्या संवाददाता की वास्तविक आवश्यकता, जो पत्रकारिता की आवश्यकता कही जायेगी, आंशिक रूप से भी पूरी हुई कही जा सकती है। यह प्रश्न संवाददाताओं का अपना खास विषय है, जिसकी चर्चा प्रायः हर बैठक, हर सम्मेलन और हर आयोजन में होती है। यह विषय मात्र संवाददाताओं का ही नहीं है, पत्रों के संचालकों और किसी हद तक प्रबुद्ध पाठकों का भी है। किन्तु, इन अन्य दो की दिलचस्पी उतनी नहीं दिखलायी देती जितनी ग्रामीण संवाददाताओं की।

ग्रामीण संवाददाता अपनी आवाज के बल पर स्वयं तो सरकार का ध्यान आकृष्ट करते ही रहते हैं। किन्तु पत्र-संचालकों का भी यह काम है कि वे सरकार का ध्यान अपने प्रभाव से आकृष्ट करें। यह काम संचालकों के भी हित में है। इस समस्या पर स्वयं मुझे अभी तक ऐसी कोई बात नहीं सूझी है जिसे मैं बिलकुल निजी ऐकान्तिक तथा सर्वग्राह्य मानकर प्रस्तुत करूँ। हो सकता है कि इस वृद्धावस्था में ग्रामीण संवादताओं से जो सम्पर्क कुछ बढ़ा है उसी से कुछ नये विचार सूझते रहें।

———

वे समकक्ष हो सकते हैं

ग्रामीण संवाददाता इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकते कि उनकी शिकायत साधन और सुविधा को लेकर चाहे जो हो वे अपनी अत्यन्त सीमित स्थिति में भी जितना कर सकते हैं उतना करने में भी आलस्य कर जाते है या स्वयं अपने से सतर्क नहीं रहते। किसी तरह किसी अर्थ में समाचार मानलिये गये ग्राम्य समाचार भेजकर वे छुट्टी पा लेते हैं। वे कह सकते हैं कि हमारी सारी परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं कि हमसे इससे अधिक आशा नहीं की जा सकती। परिस्थिति का रोना गलत नहीं है; किन्तु इसमें वे अपनी कुछ कमजोरियाँ (मजबूरियाँ नहीं) चाहे तो आसानी से देख सकते हैं। क्या परिस्थितियों से जूझने की कोई शक्ति नही रह गयी है, क्या जो एक "सत्ता और महत्ता" मान ली गयी है उसको इसी तरह कायम रखा जा सकता है ? ग्रामीण पत्रकारो को अपनी निराशा अपने आलस्य तथा अपनी मजबूरी को एक चुनौती के रूप मे लेना होगा अन्यथा वे जहाँ के तहाँ रह जायेंगे।

जबकि मैंने माना है कि जो पत्रकार नही हैं उनमें बहुत से ऐसे हो सकते हैं जिनमे अच्छे से अच्छे पत्रकारों से अधिक सहज पत्रकार-प्रवृत्ति प्रतिभा तथा रुचि देखने को मिलेगी, तब मैं यह कैसे कह सकता हूँ कि ग्राम्य पत्रकारों में शहरी पत्रकारों से कम पत्रकार-गुण है। यह बात दूसरी है कि विकास की जो भौतिक परिस्थितियाँ तथा अवसर शहर में है उनका गाँवों में नितान्त अभाव बना हुआ है—खास करके अपने जैसे देशों में। जो कुछ भी हो यदि हर गाँव मे नहीं तो कई गाँवों को मिलाकर पत्रकार अपने लिये और साथ ही औरों के लिए पत्रकारोचित बौद्धिक परिवेश बना सकते है। गाँवों में प्रतिभाएँ कम नहीं है। उनकी खोज और उनके आत्मबोध, आत्मविश्वास तथा जिज्ञासा-प्राबल्य को बढ़ाने का कार्य करके गाँव के पत्रकार अपना ही नहीं पूरे ग्राम-समाज का बहुत भला कर सकते हैं। अध्यापक-पत्रकार तो यह कार्य अवश्य कर ले जायेंगे।

अपने मानदण्ड के अनुसार यदि मैं अधिकांश ग्रामीण संवाददाताओं से निराश हुआ हूँ तो अनेक अवसरों पर अनेक ऐसे ग्रामीण संवाददाताओं से भी मिला जिनसे प्रभावित होकर मैंने मानलिया कि यदि जरा सा भी सहारा और प्रोत्साहन मिले तो ये काफी आगे बढ़ सकते है और किसी दैनिक पत्र में काम किये बिना भी दैनिक पत्रों के सम्पूर्ण सम्पादन-कार्य को बैठे-बैठे समझ ले सकते हैं। मैंने 'पूर्ण पत्रकार' की जो परिभाषा की है उसके अनुसार यदि बहुत से पत्रकार पूर्ण पत्रकार कहलाने से वंचित रह जायेंगे तो अपवाद स्वरूप कुछ ऐसे मेधावी प्रतिभावान तथा लगन वाले भी मिल जायेंगे जो पूर्ण पत्रकार थोड़े से ही प्रयास से हो सकते हैं। उस परिभाषा में जो आवश्यकता बतलायी गयी है उसे पूरी किये बिना भी वे पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन की पूरी विधि से परिचित हो जायेंगे। हाँ इतना जरूर करना होगा कि इस सम्बन्ध में जो दो-चार पुस्तकें उपलब्ध हो उनका अध्ययन किया जाय, अनुभवी पत्रकारो से मिलते रहा जाये और यदा-कदा दैनिक पत्रों के कार्यालय में भी जाकर कुछ देखा समझा जाये। पूर्ण पत्रकार की परिभाषा में मैंने जो यह कहा है कि पूर्ण पत्रकार कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि एक औसत अच्छे दैनिक में कम से कम 4-5 वर्ष तक सभी मेजों पर बैठकर अनुभव प्राप्त कर लिया जाय उसे ये ग्रहण कर लें तो वे अपनी बिरान्री के अल्प शिक्षित तथा पत्रकारो के प्रशिक्षण का काय अपने हाथ मे ले सकते हैं

ठोस प्रशिक्षण कैसे

ग्रामीण पत्रकारों के प्रशिक्षण की नितान्त आवश्यकता है। पत्रकार हो जाने या कहे जाने पर पत्रकारों में जो एक भ्रमजन्य अहं हो जाता है उसकी वजह से कुछ पत्रकारों को अपने प्रशिक्षण की यानी छात्र या विद्यार्थी बनने की बात कुछ शान के खिलाफ लग सकती है। किन्तु, वास्तविकता यह है कि आज बहुत से अल्पशिक्षित तथा अर्द्धशिक्षित या अपूर्ण शिक्षित लोग भी पत्रकार बन गये हैं या बना लिये गये हैं। यह स्थिति जब एक यथार्थता बन गयी है और प्रशिक्षण के बिना काम चलने का नहीं तब प्रशिक्षण का प्रश्न उठेगा ही और अब तो कुछ तेज रफ्तार से प्रशिक्षण शिविर लगने भी लगे हैं। कुछ इने-गिने समाचारपत्रों के सचालक-सम्पादक प्रशिक्षण के नाम पर अपने संवाददाताओं की बैठक जब तब बुलाकर कुछ बता देते हैं। स्वयं कुछ पत्रकार व्यक्तिगत प्रयास से या अपने किसी संगठन की ओर से कभी-कभी (अनियमित रूप से) मण्डल-स्तर पर या जिला स्तर पर दो-तीन दिनों का शिविर लगाकर छुट्टी पा लेते हैं और संतुष्ट हो जाते हैं। किन्तु, सच पूछिये तो ये शिविर एक 'शो' बनकर रह जाते हैं प्रशिक्षण नाम की चीज किसी के पल्ले नहीं पड़ती।

जिस न्यूनतम अपेक्षित प्रशिक्षण के लिए प्रतिदिन दो-तीन घंटे का समय देकर कम से कम छः महीने के समय की आवश्यकता हो वह जब-तब कुल तीन या चार छः घंटे से भला क्या प्राप्त होगा ? उस प्रशिक्षण की बात तो छोड़ दीजिये जो पत्रकारिता को विषयों का विषय मानकर चलने पर दिया जाये। पूर्ण पत्रकार की परिभाषा के अनुसार लगाये जाने वाले प्रशिक्षण शिविर की भी बात अभी अलग रख दी जाये। यहाँ सम्प्रति उतने ही प्रशिक्षण की बात करनी है जितना ग्रामीण संवाददाताओं के लिए व्यावहारिक रूप में अपेक्षित है।

इस सम्बन्ध में उदाहरण के रूप में अपना ही एक अनुभव बताने के लिए मैं कर्वी (चित्रकूट) में आयोजित बुन्देलखण्ड पत्रकारिता प्रशिक्षण शिविर का उल्लेख करना चाहता हूँ। आशा है, इस उल्लेख से वे आयोजकगण मुझ पर नाराज नहीं होंगे, जिन्होंने मुझे उस शिविर का आचार्यत्व ग्रहण करने के लिए बड़े आदर प्रेम से आमंत्रण किया था और मार्ग व्यय के अलावा मुझे दक्षिणा भी दी थी। अकेले मुझ पर करीब 3 सौ रुपये खर्च कर दिये गये। इसी प्रकार दिल्ली, वाराणसी, पटना आदि नगरों से बुलाये गये विशिष्ट अतिथियों पर भी काफी खर्च हो गया होगा। भोजन तथा जलपान पर भी प्रति दिन हर अतिथि पर कम से कम 30 रुपये खर्च किये गये। इतने खर्च के बाद प्रशिक्षण नाम की चीज तीन दिनों में मुश्किल से तीन घंटे चली होगी।

यह पाँच जिलों—बाँदा, झाँसी, ललितपुर, महोबा, हमीरपुर और जालौन का शिविर था। जो बेचारे प्रशिक्षणार्थी तथा प्रतिनिधि दूरस्थ जिलों से आये उनके व्यक्तिगत खर्च का भी अन्दाज लगा लिया जाय। औसतन प्रत्येक व्यक्ति का खर्च सौ से लेकर ढाई सौ तक हुआ होगा   बताया गया   इतना खच करके 3 घंटे में उन्हें क्या सिखा दिया

आचार्यत्व उनके किस काम आया ? 3 घंटे का भी कोई संक्षिप्त पाठ्यक्रम बन सकता था। मुझे ही कोई बना लेने को कहा जाता तो अलग बैठकर बना लेता। किन्तु, आयोजन के ही निर्धारित कार्यक्रम तथा चहल-पहल के बीच मैं क्या बनाता ? पाठ्यक्रम के अनुसार बोलने के लिए चार-पाँच और व्यक्तियों को तैयार करना चाहिए था। अकेले यदि मुझे ही बोलना होता तो 3 घंटे का यह समय मुझे ही दे दिया जाता। किन्तु, मुझे तीन दिनों में डेढ़ घंटे भी नहीं मिल सका।

तीनों दिन उद्घाटन-भाषण, स्वागत-भाषण मुख्य अतिथि का भाषण दस-दस पाँच-पाँच मिनट से लेकर आधे-आधे घंटे के अन्यान्य व्यक्तियों के भाषण और समापन-भाषण में ही मुख्यतः बीत गये। इस बीच प्रशिक्षण के नाम पर कुल 3 घंटे का समय मिल गया, यही समझिये बहुत बड़ी बात थी। प्रशिक्षण में भी भाषणबाजी ही ज्यादा रही। तीसरी बार, अंतिम बार, मुझे जो बीस-पचीस मिनट बोलने का समय मिला उसमें अपनी शिकायत व्यक्त किये बिना नहीं रह सका। यह शिकायत यदि कुछ लोगों को अच्छी लगी तो कुछ लोगों को थोड़ी अप्रिय भी लगी। जिन्हें कुछ अप्रिय लगी उन्हें अंततः मेरी आलोचना से और मेरे एक सुझाव से शायद कुछ संतोष भी मिल गया। मैंने कहा मैं यहाँ से कुछ दिये बिना ही जा रहा हूँ। मुझे अपने आचार्यत्व पर दुःख यह है कि जैसा और जितना प्रशिक्षण मैं चाहता था उतना दूर-दूर से आये प्रशिक्षणार्थियों को नहीं मिल सका।

मेरा सुझाव यह रहा :—यदि पत्रकारों के प्रशिक्षण को सार्थक बनाना है, आम पत्रकारों को लाभान्वित करना और उनका स्तर ऊँचा उठाना है, तो यह तहसील-स्तर पर ही सम्भव है और व्यावहारिक भी। इसमें तहसील का एक-एक पत्रकार आसानी से अत्यन्त कम मार्ग-व्यय से आ सकता है, लगातार पन्द्रह, दस या सात दिन ठहर सकता है और जरूरत पड़ने पर शीघ्रता से अपने घर पहुँच सकता है। वह भोजन के खर्च से भी बच सकता है या थोड़े ही खर्च से पूरा भोजन प्राप्त कर सकता है। मण्डल-स्तर या जिला-स्तर पर दो-एक वर्ष मे एक ही बार चार-छः घंटे का प्रशिक्षण सम्भव है; किन्तु तहसील-स्तर पर साल में तीन-चार बार प्रशिक्षण का आयोजन बिलकुल कठिन नहीं और हर बार 30 घंटे से 60 घंटे तक का प्रशिक्षण चलेगा (सात दिवसीय, दसदिवसीय या पन्द्रहदिवसीय)। प्रशिक्षण-शिविर को कोई समारोह का रूप या और कोई रूप देना यदि प्रचारात्मक दृष्टि से आवश्यक हो तो एक हफ्ते, दस दिन या पन्द्रह दिन मे से छः घंटे से 10 घंटे तक का समय समारोह की तमाम औपचारिकता में खर्च कर देना खलेगा नहीं।

ऊपर लिखी गयी बातों में मैने भोजन के खर्च की भी जो कहा है उसके सम्बन्ध में मैं कुछ और कहना चाहता हूँ। आज भी हमारे गाँव में तमाम बुराइयों के बावजूद जो एक विशेष गुण मुझे दिखलायी दिया वह है अपने यहाँ अतिथियों को भोजन कराने का हौसला तथा आनन्द। इस गुण के आधार पर मेरा यह मानना शायद गलत नहीं होगा कि बीस-पचीस प्रशिणार्थियों को आस-पास के गाँवों के दस-पाँच या दस-पन्द्रह परिवार मिलकर एक सप्ताह में एक पखवारे तक सम्मान भोजन करा सकते हैं। ऐसा देखा गया है कि गाँव वालो को यह बात पसन्द नहीं आती कि उनके गाँव में आकर रहने वाला कोई व्यक्ति अपने साथ

अपना सीधा लेता आये और उसी का उपयोग करे। इस प्रकार जो दूरस्थ (तहसील के ही) प्रशिक्षणार्थी अपने साथ सीधा ले आ सकते हैं वे भी उससे मुक्त हो जायेंगे।

गाँव वालों के लिए ये प्रशिक्षण-शिविर एक उत्सव का-सा भी दृश्य उपस्थित कर सकते हैं। इस दीर्घावधि प्रशिक्षण-शिविर के साथ कुल दस बारह घंटे का खेलकूद तथा सास्कृतिक कार्यक्रम भी चलाना गाँव वालों के लिए आकर्षक तथा प्रेरक होगा।

इस प्रकार तहसील-स्तर का प्रशिक्षण हर दृष्टि से रोचक, रुचिकर और ठोस होगा। कहाँ मण्डल-स्तर पर दो तीन साल में केवल 3-4 घंटे का शिविर और कहाँ यह तहसील स्तर का साल में 30 घंटे से 60 घंटे का शिविर! क्या यह 'प्रशिक्षण का एक ठोस सुझाव' नहीं माना जायेगा। इसे और ठोस बनाने के उपाय सूझते रह सकते हैं। यह एक सुखद बात है कि गाँवों में कुशल तथा कुशाग्र-बुद्धि अध्यापक भी पत्रकारिता में आ गये हैं। ये पत्रकार-प्रशिक्षण को और ठोस बनाने में अत्यधिक सहायक हो सकते हैं। इनका उपयोग कैसे किया जाय, ये स्वयं अपने को सेवार्पित कैसे करें—यह सब कुछ उनसे ही जानने को मिल जायेगा।

ग्राम्य पत्रकारों का प्रशिक्षण उतने ही भर के लिए नहीं होगा जितना गाँव के संवाद-दाता के रूप में वे करके छुट्टी पा जाते हैं। उन्हें पूर्ण पत्रकारिता का व्यावहारिक ज्ञान गाँव मे ही रहकर किसी पत्र से सीधे-सीधे सम्बद्ध हुए बिना भले ही प्राप्त न हो सके, उसका सैद्धान्तिक ज्ञान वैसे ही प्राप्त करना होगा जैसे किसी विश्वविद्यालय के पत्रकारिता-विभाग से प्राप्त होता है, हो सकता है या होना चाहिए। गाँव के अध्यापक विश्वविद्यालय के पत्रकारिता विभाग के अध्यापकों से अच्छा कार्य कर सकते हैं—यह बात साधिकार कही जा सकती है। हाँ इस अध्यापन-कार्य के लिए उन्हें आत्मप्रशिक्षित होना होगा।

पूर्ण पत्रकार की जो एक परिभाषा मैंने की है वह परिभाषा जरूर है और उसे ग्रहण करने का मेरा आग्रह भी है। यह आग्रह सोद्देश्य है—पत्रकार और पत्रकारिता दोनों के कई तरह से सस्ते होते जाने की गति मन्द कर देने के उद्देश्य को लेकर। किन्तु, जैसाकि मैंने अपवाद की बात स्वीकार करते हुए यह भी कहा है कि पत्र-पत्रकार जगत के बाहर भी ऐसे लोग मिलेंगे जिनमें पत्रकारिता की सहज प्रवृत्तियाँ बहुत से पत्रकारों की ऐसी प्रवृत्तियों से अधिक हो सकती हैं। मैं ग्रामीण पत्रकारों में ऐसी प्रवृत्ति वालों की एक उल्लेखनीय संख्या देख सकता हूँ और साथ ही यह विश्वास कर सकता हूँ कि ये प्रवृत्तियाँ पैदा भी की सकती है, विकसित भी हो सकती हैं। इन लोगों के बारे में यह सोचना गलत नहीं होगा कि व्यावहारिक ज्ञान का जो अभ्यास-पक्ष है वह भले ही पत्र में काम किये बिना सुलभ न हो और ठोस न बन सके; किन्तु उस ज्ञान के अन्तर्गत जो-जो तथ्य आते हैं उन्हें बाहर रहकर भी बखूबी समझा जा सकता है।

जिस व्यावहारिक ज्ञान में अभ्यास भी जरूरी होता है उसके अन्तर्गत मुख्यतः ये तथ्य आते हैं:—1. समाचार-मूल्यांकन और उसकी समझ 2. समाचारों की पकड़ (पंक्तियाँ नहीं पंक्तियों के बीच पढ़ना) 3 समाचारों का महत्व-क्रम तथा महत्व-निर्धारण 4 पृष्ठों की सजावट 5 6 प्रेस की कार्यविधि 7 जहाँ हैं वहीं तत्काल उठी

समस्या और उनका तत्काल निर्णय (यह एक ऐसा तथ्य है जिसके कारण काम बहुत ठीक हो सकने पर भी उतना ठीक नहीं हो पाता)

यदि अभ्यास-पक्ष पर जोर न दिया जाय तो इन सबके बारे में भी अपवाद में आने वाले व्यक्ति (ग्रामीण पत्रकार) की समझ प्रखरतर सिद्ध हो सकती है। ऐसे ग्रामीण पत्रकार को एक प्रबुद्ध पाठक के ही रूप में रखकर हम बता सकते हैं कि यह जरूरी नहीं है कि उसकी समझ और पकड़ (समाचारों के सम्बन्ध में) पत्र में काम करने वाले (व्यावहारिक ज्ञान से सम्पन्न माने जाने वाले) पत्रकार से अधिक न हो। इसी प्रकार अपने सहज सौन्दर्य-बोध से वह पृष्ठ-सज्जा की भी आलोचना-समालोचना कर सकता है। प्रकाशित लम्बे समाचारों में कौन से अंश अनावश्यक हैं या आवृत्ति मात्र है—यह भी है वह बता सकता है। इसके लिए दो चार दिन तक तो ऐसे किसी भी व्यक्ति के पास बैठना ही होगा जो संक्षिप्तीकरण का विशेषज्ञ हो गया हो।

पत्रकारिता के और जो-जो विषयांग अन्य सभी पत्रकारों की तरह ग्राम्य पत्रकारों को भी पढ़ना चाहिए और जिनके लिए पत्र के सम्पादकीय विभाग में उपस्थित होना आवश्यक नही है वे ये हैं :—1. पत्रकारिता का राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास : पृष्ठभूमि, जन्म और विकास 2. पत्र और पत्र-संचालक 3. सामान्य ज्ञान और योग्यता 4. असाधारण ज्ञान और व्यक्तित्व 5. पत्र : स्वतंत्रता और स्वामित्व 6. सम्पादकीय पृष्ठ 7. पत्रकारिता और लोकतंत्र 8. पत्रकारिता और साहित्य 9. समाचारपत्र : कार्य-विभाजन और कार्यप्रणाली 10. समाचार-साधन 11. समाचार की परिभाषा, समाचार का आदर्श-पक्ष व समाचारों की परिधि 12. पत्र और पत्रकारिता किनके लिए' आदि।

इस प्रकार जो ग्रामीण पत्रकार सचमुच पूर्ण पत्रकार बनना चाहते हैं, नाममात्र का पत्रकार कहलाना पसन्द नहीं करते, पूर्ण और अपूर्ण का भेद मिटाना चाहते हैं और पत्रकारिता की दृष्टि से शहर और गाँव की दूरी कम करना चाहते है उनके लिए प्रशिक्षण, पढ़ने-लिखने और आगे चलकर स्वाध्यायी बनने के योजनास्वरूप यहाँ जो-कुछ प्रस्तुत किया गया है उससे यदि कोई प्रबलतर तथा उज्ज्वल सम्भावना दिखलायी देती हो तो इस योजना को पकड़ लेने में देर नहीं करनी चाहिए। यह एक ऐसी योजना साबित हो सकती है जिससे प्रेरित होकर अल्प-शिक्षित तथा अर्द्ध-शिक्षित पत्रकार भी लाभान्वित होकर सुशिक्षित हो जा सकते हैं, उनका व्यक्तित्व ऊँचा हो सकता है और वे आत्मलाघव या हीनता की भावना से अपने को मुक्त कर ले जायेंगे।

गाँव और शहर का भेद किसी को पढ़ने-लिखने, स्वाध्यायरत होने और समाज के लिए अपना कृतित्व प्रस्तुत करने से नहीं रोक सका—इतिहास साक्षी है, सैकड़ों नहीं हजारों गाँव साक्षी हैं। शहरी पत्रकारों के मुकाबले विपुल संख्यक ग्रामीक पत्रकारों का पत्र-पत्रिकाओं से पूर्णत: सम्बद्ध होना तो संभव नही है, किन्तु वे सम्बद्ध हुए बिना भी बहुत कुछ पत्रकार-कार्य सम्पन्न कर सकते हैं।

समाजशास्त्रीय अध्ययन

क्या आज तक ग्रामीण पत्रकारों ने, गम्भीरतापूर्वक सोचा है, महसूस किया है, कि गाँवों से सीधे सम्पर्क से जैसा समाजशास्त्रीय अध्ययन हो सकता है वैसा हुआ है? क्या इस सत्य व तथ्य को उन्होंने पकड़ा है कि स्वयं भारतीय समाजशास्त्रियों ने अपने देश के गाँवो का अध्ययन किताबी ज्ञान तक सीमित रखा है। इन समाजशास्त्रियों से अच्छा अध्ययन तो गाँवों के सम्पर्क में रहने वाले साहित्यकारों, उपन्यासकारों तथा कथाकारों ने किया है। इन उपन्यासकारों तथा कथाकारों ने समाजशास्त्र के सिद्धान्त तथा सूत्र भले ही न पढ़े हो, किन्तु उनके कृतित्व से जो ठीक-ठीक चित्रण होता है वह अपने में एक बड़ा समाजशास्त्रीय अध्ययन कहा जाता है। अब यह अध्ययन ग्रामीण पत्रकारों को पत्रकारिता के दृष्टिकोण से करना है।

पत्रकारिता में एक विषयांक के रूप में 'सम्पर्क' की जो चर्चा की गयी है उसी से अन्यान्य वादों की तरह एक सम्पर्कवाद भी निकल आया है, जो कुछ निन्दात्मक-आलोचनात्मक तथा व्यंग्यात्मक रूप से प्रचलित हो चला है। ऐसा इसलिए है कि जो सम्पर्क वास्तव मे जनसम्पर्क होना चाहिए था और समाजशास्त्रीय अध्ययन के रूप में आना चाहिए था वह व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए कुछ खास-खास लोगों तक सीमित रह गया है।

जन-सम्पर्क का, उसके माध्यम से समाजशास्त्रीय अध्ययन का, मतलब यह होता है कि समाज के विभिन्न स्तरों और विभिन्न वर्गों के लोगों की सामान्य भावनाओं तथा विचार-धाराओं के साथ ही उनकी विपरीत भावनाओं तथा विचारधाराओं अर्थात् विभिन्नताओं को भी ठीक-ठीक समझा जाय और जाने कब से चली आ रही विचार-संकीर्णताओं की परिधि मे बँधे रहकर एक ही राग न अलापा जाय। यह एक बहुत बड़ा कार्य और यही वास्तविक समाजशास्त्रीय अध्ययन है।

आम तौर पर यही देखा जाता है और आम आदमी की यही शिकायत है कि नीचे से जिस स्तर तक के अधिकारियों, नेताओं तथा दूसरे बड़े लोगों से सम्पर्क हो सकता है उसी स्तर तक उन्हीं लोगों से सम्पर्क करके पत्रकार रह जाते हैं। जिन आम लोगों से बड़ी आसानी से सम्पर्क हो सकता है उनसे सम्पर्क किया ही नहीं जाता या नाममात्र का होता है। यदि यह तर्क दिया जाय कि "आम संवाददाता आम जनता के बीच रहते ही हैं, अतः उससे सम्पर्क न होने का कोई सवाल ही नहीं उठता" तो ऊपर से सही भले लगे पत्रकारिता के सम्पर्क-सिद्धान्त के अनुसार सही नहीं माना जायेगा।

ग्रामीण संवाददाता (पत्रकार) आम जनता के एक बहुत बड़े हिस्से के बीच रहने और निकट से कुछ समझते रहने का दावा कर भी सकते हैं, किन्तु क्या शहरी संवाददाता भी यही दावा करके अपनी वाक्पटुता से किसी को निरुत्तर कर सकते है? कम से कम इन पत्रिकों

के लेखक को तो अपनी पचास वर्षों से अधिक की पत्रकारिता-यात्रा में अभी तक निरुत्तर करने वाला कोई नहीं मिला।

ग्रामीण पत्रकारों के योग्यता-क्षमता-बल नहीं, केवल उनके संख्या-बल पर ध्यान जाता है तो कुछ-कुछ ऐसा विश्वास होता है कि उनमें से यदि पाँच प्रतिशत भी निकल आएँ तो वे भारतीय समाज का दूर से, केवल किताबों से, अध्ययन करने वाले दिग्गज समाजशास्त्रियों को चुनौतियाँ दे सकते हैं, और कुछ नहीं तो उनके अध्ययन-निष्कर्षों में भयंकर खोट दिखा सकते हैं। किन्तु ऐसा तभी संभव होगा जब वे सम्पर्क के मर्म तक पहुँच सकें और उसे स्वार्थ-साधन बनाने से बचे रहे। उनके अध्ययन मनन तथा चिन्तन में और उनसे उद्भूत निष्कर्षों में यह भी परिलक्षित होना आवश्यक होगा कि वे स्वयं संकीर्णताओं से अपने मन तथा मस्तिष्क को बचाते आये हैं। इन निष्कर्षों में 'गाँव की पुकार' सुनाई देगी।

ग्रामीण पत्रकारों के लिए अपने पत्रकारिता-अध्ययन तथा तत्सम्बद्ध समाजशास्त्रीय अध्ययन में 'समाचारपत्र और पाठक' विषय आज जितना प्रमुख तथा महत्वपूर्ण हो गया है उतना पहले कभी नहीं हुआ था। यह बात इन दिनों लगातार हो रहे ग्रामीण पत्रकारों के सम्मेलनों तथा आयोजनों में व्यक्त होने लगी है—आदर्श-पक्ष से ही नहीं व्यावहारिक पक्ष से भी। यह एक शुभ लक्षण है, शुभ संकेत है। इससे ग्रामीण पत्रकारों में एक दायित्व-बोध के साथ कोई नयी चेतना आती दिखलायी देती है।

1953-54 में पत्रकारिता पर प्रकाशित अपनी प्रथम पुस्तक (लघु पुस्तक) 'पत्रकारिता : दो दिशाएँ' में मैंने 'समाचारपत्र और पाठक' प्रश्न अत्यन्त संक्षेप में उठाकर छोड़ देने के बाद 1973 में प्रकाशित द्वितीय पुस्तक 'पत्रकारिता : संकट और संत्रास' में मुख्यत: संकट की ही दृष्टि से और फिर 1979 के प्रकाशित तीसरी पुस्तक 'सम्पूर्ण पत्रकारिता' में कुछ भिन्नता के साथ सामान्य दृष्टि से उठाया है। यहाँ ग्रामीण 'पत्रकारिता के समाजशास्त्रीय अध्ययन' के प्रसंग में कुछ इसी के अनुरूप पुन: उठा रहा हूँ। यहाँ हमें विशेष रूप से ग्रामीण पाठकों पर विचार करना होगा। सबसे पहली बात यह है कि आबादी तथा भूमि-विस्तार की दृष्टि से गाँवों और शहरों का जो अनुपात है वही पत्र-पत्रिकाओं के पाठकों की दृष्टि से नहीं है।

गाँवों के पत्र-पत्रिकाओं के पाठकों की संख्या में यह कमी और उनका शहरी पाठकों की तरह सामान्यत: नियमित न होना ये दो तथ्य ऐसे हैं, जो पत्र-पत्रिकाओं पर पाठकों की प्रतिक्रिया और गाँवों के समाजशास्त्रीय अध्ययन के विचार से ग्रामीण पत्रकारों के लिए समस्या जरूर है; किन्तु इससे मोटे तौर पर ग्रामीण पाठकों की एक प्रतिक्रिया जानने और फिर उस प्रतिक्रिया को भी एक साधन बना लेने पर गाँवों का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने में कोई बड़ी बाधा नहीं पड़नी चाहिए।

शहर में रहने वाले बहुत से नियमित समाचारपत्र-पाठकों का गाँव में आना जाना लगा रहता है—गाँवों से भी सम्बन्ध बना रहने के कारण। इससे ही संवाददाता पाठकों की

प्रतिक्रिया जान सकते हैं। गाँवों में ही बराबर (मुख्यतः) रहने वाले पढ़े-लिखे लोगों का नियमित पाठक बनना कठिन जरूर है, क्योंकि जैसे शहरों में नियम से सुबह या शाम पत्र मिल जाते है वैसे ही गाँवों में मिलना अभी शायद दस-बीस वर्ष तक संभव नहीं है; फिर भी, कुछ देर से ही सही, दूसरे दिन ही सही, समाचारपत्र अधिकांश गाँवों में पहुँचाने का कोई उपाय निकल सकता है। यह उपाय निकालना ग्रामीण संवाददाताओं का ही काम होगा। गाँव के पाठकों के लिए दो-तीन दिन बाद भी मिले पत्र बासी नहीं माने जायेंगे। वर्तमान स्थिति में देखा गया है कि गाँवों तक अधिक पाठ्यसामग्री न पहुँचने के कारण बहुत से शिक्षित लोग 7-8 दिन के बासी हो गये पत्र भी मिल जाने पर आद्योपान्त पढ़ जाते हैं।

इस प्रकार, स्थिति जो भी हो, गाँवों में पाठकों की एक शक्ति पत्रकार खड़ी कर सकते हैं। उनमें जो प्रबुद्ध हैं उन्हें संगठित करके न केवल ग्रामीण समाज के सही अध्ययन में सहायता प्राप्त की जा सकती है, बल्कि गाँवों में भी एक ऐसा सांस्कृतिक वातावरण बनाया जा सकता है जो शहर के किसी भी सांस्कृतिक वातावरण से अधिक स्वस्थ तथा प्रेरक होगा। इसी वातावरण में समाचारपत्रों तथा पत्रिकाओं की विकृतियों पर नजर रखने वालों की एक वाहिनी बन जायेगी जिसके सैनिक तथा प्रहरी जरूर कोई बड़ा काम कर ले जायेंगे। यह वाहिनी ग्रामीण बुद्धिजीवियों की वाहनी होगी जिसमें ग्रामीण पत्रकार निश्चय ही अपनी एक बड़ी भूमिका निभा सकेंगे।

जहाँ तक पत्र-पत्रिकाओं की विकृतियों पर नजर रखने वाली 'एक वाहिनी' के उदय का प्रश्न है, वह कुछ दूर की बात है। उसकी प्रतीक्षा में रुके रहना ठीक नहीं होगा। इस बीच गांव में जितने भी पत्र-पत्रिकाओं के पाठक मिल सकें, शहरों से आते रहने वाले जितने पाठकों से सम्पर्क हो सके, उन्हें लेकर अपना समाजशास्त्रीय अध्ययन चलाया जा सकता है। गाँव के गरीबों, निरक्षरों, अशिक्षितों अल्पशिक्षितों तथा अर्धशिक्षितों, मध्यम किसानों, तथा सामन्तवाद के अवशेष लोगों से जो सीधा सम्पर्क गाँव के पत्रकारों का होगा उसको और प्रभावी बनाने में गाँव के पाठक अच्छा योगदान करेंगे—अपने शहर और गाँव दोनों के अनुभव से।

यहीं ग्रामीण पत्रकारों को यह सोचते रहना होगा कि ये सब लोग समाचारों में बराबर कैसे आते रह सकते हैं; इन्हें समाचारों में बराबर लाते रहना ग्रामीण पत्रकारों की एक बहुत बड़ी उपलब्धि होगी और साथ ही जनसम्पर्क का सही अर्थ सामने आयेगा और तब वह सम्पर्कवाद नहीं रह जायेगा जो आज निन्दा आलोचना तथा व्यंग्य से घिरा हुआ है। पत्रकारिता में आया सम्पर्क-सिद्धान्त पत्र-पत्रिकाओं के पाठकों को, और फिर उन्हीं को एक आधार-सा बनाकर आम जनता को, समझने-परखने का सिद्धान्त है। आम जनता को समझने-परखने का सिद्धान्त समाजशास्त्र का भी एक प्रमुख सिद्धान्त है। तो पत्रकारिता और समाजशास्त्र का कोई मेल क्यों न देखा जाये और उस पत्रकार को कुशल [illegible] क्यों न माना जाय जो [illegible] सिद्धान्त के अनुसार जनता से सीधा सम्पर्क रखकर समाज का अध्ययन

मैने सम्पूर्ण पत्रकारिता के 'पत्र और पत्रकारिता किनके लिए ?' शीर्षक अन्तिम अध्याय में एक स्थान पर 'बड़े लोगों' और कुछ 'छोटे लोगों' को इंगित करते हुए एक चर्चा की है, जो मुख्यत: शहरी पत्रकारों—बड़े शहरी पत्रकारों तथा साधारण शहरी पत्रकारो को ही दृष्टि में रखकर की है। इस चर्चा से ग्रामीण पत्रकार भी अपने सम्बन्ध में कुछ सोच सकते हैं, कुछ सबक ले सकते है और सावधान हो जा सकते हैं। अस्तु, यहाँ मैं उसे उद्धृत कर दे रहा हूँ :—

'जो पत्रकार जनता से निकटता' का और किसी विश्लेषणजनिक स्पष्ट परिभाषा के अनुसार जनता का वास्तविक अर्थ समझता है वह पाठकों के विभिन्न वर्गों के अलग-अलग मनोभावों तथा उनकी आकांक्षाओं और रुचियों का यथार्थ चित्र अपने दिमाग मे रख लेता है, बशर्ते उसके दिमाग पर स्वार्थ का बादल न मँडरा रहा हो। जो बड़े पत्रकार कार मे बैठकर कार्यालय आते हैं और कार में बैठकर कार्यालय से निकल जाते हैं उनमें पाठकों के विभिन्न हिस्सों को, खास कर निम्न वर्ग को, इस तरह ठीक-ठीक समझने वालों की संख्या दस पन्द्रह प्रतिशत से अधिक नहीं होगी। जिनके पाँव उस धरती पर पड़ते न हों, जिस पर विपुल जनसमुदाय—जिसके पास कार की कौन कहे साइकिल भी नहीं होती—रहता है वे जनता के हर हिस्से के सही परिचय से अंत तक वंचित ही रहते हैं। वे पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जनता का एक परिचय जरूर प्राप्त कर लेते हैं; किन्तु प्रत्यक्ष परिचय के माध्यम से, यानी अनुभव-पुस्तक के माध्यम से, और समाज में वास्तविक पैठ के माध्यम से जनता का जो परिचय मिल सकता है उसे वे भला कैसे प्राप्त कर सकते हैं! इस परिचय से वंचित होने के कारण ही 'अखबार पाठकों के लिए ही होते हैं का वास्तविक अर्थ उनकी समझ में नहीं आता।

'अखबार पाठकों के लिए होते हैं' इसे समझने में बड़े लोगों की विफलता की बात तो उतनी आश्चर्यजनक नहीं, जितनी कुछ छोटे लोगों की विफलता की बात। ये छोटे लोग जनता के निकट रहते हुए जनता को न समझें, यह क्या आश्चर्य की बात नहीं है? ये छोटे लोग—कार स्कूटर आदि से वंचित पत्रकार—भी तो बाबू प्रवृत्ति के, कुछ साहबी स्वभाव के, हो जाते हैं। ये बाबुओं के ही साथ रहकर और बड़े लोगों के ही पीछे-पीछे दौड़ने के फेर मे पड़कर शेष जनता को ऊपर से ही थोड़ा-बहुत समझने की कोशिश करते हैं। इनके पाँव धरती पर पड़ते हैं, ये गन्दी बस्तियों से भी पैदल गुजरते हैं; सैकड़ों मैले-कुचैले और फटे-पुराने कपड़े पहने घूमते लोगों को देखते हैं; दीनता का उपहास करने वाले अहं के चित्र भी इनके सामने आते रहते हैं; कहीं-कहीं स्वयं अपमानित एवं उपेक्षित होते रहने का अनुभव करते हैं········फिर भी, ये पीड़ित अपमानित और पददलित लोगों को सहानुभूतिपूर्वक अपने दिल और दिमाग में नहीं बैठा पाते। परिणाम यह होता है कि वास्तविक पत्रकार की हैसियत से पत्र और पत्रकारिता के लिए जनता का जैसा परिचय प्राप्त करना चाहिए वैसा नहीं प्राप्त कर पाते।

ग्रामीण पत्रकारो में वैसे बड़े तो नहीं मिलेंगे जैसे ऊपर दिखाये गये हैं, किन्तु

यह कहना मुश्किल है कि उनमें ऐसे छोटे लोग भी बिलकुल नहीं हैं, जो साहबी स्वभाव या बाबू प्रवृत्ति के हो गये हैं। गाँव से सम्पर्क बनाये रखने वाले इन ग्रामीण बाबुओं तथा साहबों और शहर में ही पूरी तरह रम गये शहरी बाबुओं तथा साहबों में कुछ तो अन्तर होना चाहि और इससे यह आशा करनी चाहिए कि गाँव और शहर दोनों को कुछ पृथक् अनुभव से ये गाँव को, ग्रामीण पत्रकारों को, और परिकल्पित 'ग्रामोन्मुख पत्रकारिता' को कुछ देंगे। ये अपनी बाबूगिरी या साहबी से स्वयं लड़कर ग्रामीण पत्रकारों तथा आम जनता में लोकप्रिय हो सकते हैं। इनकी बाबूगिरी या साहबी का एक कारण यह हो सकता है कि ये या तो गाँव के ही अपने किसी आभिजात्य प्रभाव में है या इन पर भी शहरी रंग चढ़ने लगा है। ग्रामीण पत्रकार संगठन अपने बीच पत्रकारों की अनेक विभिन्नताओं तथा स्तरों पर जब कभी विचार करने की आवश्यकता समझेंगे तब से इस साहबी और बाबूगिरी को भी अपना एक विषय बना लेंगे।

यदि ग्रामीण पत्रकार अपने बारे में, गाँव के बारे में और आम पाठकों के बारे में, शहरी पत्रकारों से कुछ हटकर और कुछ मिलकर सोच सकें तो वे एक ऐसा अध्ययन प्रस्तुत कर देंगे, जो देशी-विदेशी किताबों से ही अध्ययन करके बैठे और दिग्गज हो गये समाजशास्त्रियों को तो चुनौती देगा ही, साथ ही रोज-रोज पैदा होते जा रहे 'किसान-नेता' नामधारियों की और किसानों के लिए घड़ियाली आँसू बहाने वालों की भी कलई खोल देगा।

आज भी यह सत्य है कि 'असली भारत गाँवों में बसता है,' आज भी कोई ऐसा आर्थिक सत्य नहीं खड़ा हो सका है जो यह दिखा दे कि 'भारत कृषिप्रधान देश अब नहीं रहा'। साथ ही यह भी अकाट्य सत्य है कि गाँवों में जाड़े की शाम और सुबह नंगधिड़ंग या अर्द्धनग्न बच्चों के घूमते रहने का दृश्य नहीं बदला है। क्या ग्रामीण पत्रकार तथा कोई ग्रामीण पत्रकारिता प्रचार से छिपाये जा रहे सम्पूर्ण सत्य को उद्घाटित कर सकेगी? सवाल सम्पूर्ण सत्य को उद्घाटित करने का ही नहीं है, गाँवों की वास्तविक मुक्ति का भी है और उसके लिए चेतनायुक्त संघर्ष का भी है। इस तरह मे तमाम प्रश्नों को एक चुनौती के रूप में वे ही ग्रामीण पत्रकार स्वीकार करेंगे, जो 'पत्रकार' कहलाकर ही संतुष्ट नहीं रहना चाहते, गाँव का दर्द अपना दर्द बना लेना चाहते हैं'।

अंतिम बात

ग्रामीण संवाददाताओं को यदि एक ही इकाई के रूप में लिया जाय तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी सत्ता और महत्ता प्रथमतः उनके संख्याबल से तथा तेजी से बढ़ रहे संगठन से स्थापित देखी जा सकती है। उनकी सत्ता और महत्ता स्वीकार कर भी ली गयी है और इस पर इन पंक्तियों के लेखक ने यह पुस्तक प्रस्तुत करके 'अपनी बिरादरी' की जो सेवा की है वह भविष्य में कुछ और काम करेगी।

किन्तु, चर्चाओं के ही बीच रहने वाली और चर्चाओं में ही दिलचस्पी रखने वाली इस बिरादरी को अभी 'दबी जुबान से ही हो रही' उस चर्चा को भी जरूर सुनना चाहिए जो उनके बारे में एक धारणा बन कर फैल रही है और जिससे समय रहते सावधान हो जाना चाहिए। ऐसी बात नहीं है कि वह चर्चा कान में पड़ी ही न हो, जरूर पड़ी होगी। यह चर्चा छोटे-बड़े सबको लपेटने लगी है। चर्चा सुनकर ही नहीं, बहुत-कुछ अपनी आँखों से देखकर भी, स्वयं इस बिरादरी के एक पक्ष के लोग लज्जा का अनुभव करते हुए आलोचक ही नहीं निन्दक तक बन जाने के लिए बाध्य हो रहे हैं। वे अपने ही लोगों के बीच कह उठते हैं "मालूम पड़ता है आने वाले कुछ ही वर्षों में पत्रकार कहने में लज्जा का अनुभव होने लगेगा।"

उपर्युक्त 'एक पक्ष' के लोग उन लोगों से दुःखी हो उठे हैं, जो पत्रकार संगठनों में और समाज में भी अपनी एक स्थिति बना लेते है, किन्तु चतुर्थ सत्ता की गरिमा के विपरीत व्यक्तित्वहीनता का ही परिचय देते हैं। अपने कृतित्व, अपनी वाणी तथा अपने व्यवहार से गुरुता गंभीरता तथा अपेक्षित योग्यता का परिचय न देकर जब वे पत्रकारिता के रोब से काम लेते हैं तो इस 'एक पक्ष' को उन पर दुःख होता है, दया आती है और स्वयं ग्लानि होती है। ये बेचारे समझ ही नहीं पाते कि सर्वत्र एक समान रोब नहीं जम सकता, किन्तु रोब की आदत कुछ ऐसी हो जाती है कि उन लोगों के बीच भी रोब गाँठे बिना नहीं रहा जाता, जो रोब जमाने की कोशिश करने वालों की ऊँचाई तथा गहराई एक मिनट में नाप लेते हैं। यह रोब का विषय भी पत्रकारिता के संकटों में गिना जायेगा।

इन बहुसंख्यक पत्रकारों की एक और स्थिति का पता उस एक समाचार से लग जाना चाहिए, जो एक पत्रकार की मृत्यु पर उसे पत्रकार न मानकर 'हाकर' बताकर प्रकाशित हुआ था। उक्त पत्रकार उसी पत्र में संवाद भेजते रहने का काम नियमित रूप से करते थे, पत्रकार सगठनों से भी सम्बद्ध थे और [illegible] में बड़ी सक्रियता से भाग लेते थे। पत्रकारों के बीच एक [illegible]

के लिए संवादप्रेषण का काम करते थे उसकी ओर से उन्हें जो परिचयपत्र तथा अधिकार-पत्र मिला था वह कुछ गोलमटोल जरूर था, जैसा कि आजकल आमतौर पर होता है, किन्तु, उससे उनके अन्य बहुत से पत्रकारों की ही तरह पत्रकार कहलाने में बाधा नहीं पड़ती थी और वह पत्रकार मान लिये गये थे। फिर भी, जब वह मेरे तो उसी पत्र में, जिसके लिए वे काम करते थे, 'हाकर' बताकर उनकी मृत्यु का समाचार दिया गया। यह क्या है? किस स्थिति का संकेत इससे मिलता है? यह कैसी विडम्बना है।

कुल मिलाकर देखा जाये तो, मूलतः परिस्थितिगत संकट जिसे कहा जा सकता है वह पत्रों व पत्र-संचालकों तथा पत्रकारों दोनों की ओर से है। किन्तु इसका निराकरण करने की चिन्ता मालिकों को उतनी नहीं हो सकती जितनी पत्रकारों को हो सकती है, होनी चाहिए। जैसे बहुत-कुछ यथार्थ न होते हुए भी अब यथार्थ हो गया है, वैसे ही पत्रकारिता मे भी आ गयी विडम्बनाओं की यथार्थता को रोका कैसे जाय?

आज ही नहीं, पचास वर्ष पहले से, यह देखना शुरू हो गया था कि पत्रकारिता की दो दिशाएँ हैं—एक सोद्देश्यता की और दूसरी व्यभिचार, भ्रष्टता या विकृत की (जो शब्द भी उपयुक्त हो इस्तेमाल कर लिया जाय)। इन दोनों में एक स्थिति (कुछ सामंजस्य की या व्यावहारिकता की) किसी तरह चलती देखी जा सकती है; किन्तु इस स्थिति का चलना, उसे चलाना, शहरी पत्रकारों के हाथ में रहा। अब इसे चलाने में ग्रामीण पत्रकारों का भी हाथ होना चाहिए, इसलिए कि विपुल जनसमुदाय का सीधा सम्पर्क उसी से है। अभी तक गाँव शहरी विकृतियों से किसी हद तक बचे हुए हैं और इसे बचाये रखना ही उस पत्रकारिता का काम है जिसे ग्रामोन्मुख नाम दिया जाने लगा है। 'ग्रामोन्मुख पत्रकारिता' अभी तक गम्भीर बहस का विषय नहीं बनी है उसे बनाना है।

ऊपर जिस सामंजस्य की बात कही गयी है वही यदि ठीक से चल सके तो यही बहुत है और इतने से ही पत्रकारिता तथा पत्रकार उपाधि की लाज रखी जा सकती है। सामंजस्य और लाज रखने की बात का सम्बन्ध सबसे पहले उन लोगों से है जो पत्र-पत्रिकाएँ चलाते हैं और जो उनके सम्पूर्ण सम्पादन-कार्य में लगे होते हैं; किन्तु ग्रामीण पत्रकार, जो आमतौर पर पत्र-पत्रिकाओं के वेतनभोगी कर्मचारी नहीं होते, इस सम्बन्ध में नीतिकौशल के साथ अपनी स्वतंत्र अभिव्यक्ति का परिचय देते रहकर कुछ अधिक योगदान कर सकते हैं। जिसे ग्रामोन्मुख पत्रकारिता कहा जा रहा है उसे इस योगदान से एक दिशा मिलेगी।

जबकि इस कृषिप्रधान देश में भी एक हवा नगरोन्मुख करने की चल रही है, और अधिकांश ग्रामीण पत्रकार स्वयं शहर में रहने लगे हैं तब इन पत्रकारों के सामने ग्रामोन्मुख पत्रकारिता अनेक प्रश्न खड़े कर देगी—ऐसे प्रश्न जो अभी तक शायद उनके दिमाग में आये ही नहीं होंगे जो ग्रामीण पत्रकारों के संगठन में लगे हैं और नेतृत्व भी कर रहे हैं उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे ग्रामीण पत्रकारों तथा ग्रामोन्मुख पत्रकारिता का कोई

ग्रामीण पत्रकारों के अलग संगठन की सूझ कुछ रंग लाती दिखलायी दे रही है। प्रथम खण्ड के 'लाखों की एक शक्ति' शीर्षक अध्याय में जो कागज पर लिखा और देखा गया है उसे कम से कम अपने देश में, और उसमें भी हिन्दी-क्षेत्र में, अब प्रत्यक्ष देखने का एक मार्ग प्रशस्त हो रहा है। किन्तु, इस शक्ति को संभालना उसका पथप्रदर्शन करना और उसे एक दर्शन देना एक बड़ी सूझ के लिए एक बड़ी आवश्यकता है। यदि किसी सूझ ने गति पकड़ ली है तब तो निम्नलिखित सूत्र को कसकर बराबर पकड़े रहना होगा—कोई भी सिद्धान्त हो वह व्यवहार व अभ्यास के बिना लंगड़ा ही रहेगा और उसी प्रकार कोई व्यवहार या अभ्यास उस समय तक अन्धा रहेगा जब तक उसे सिद्धान्त नहीं मिल जाता। व्यवहार यदि पैर है तो सिद्धान्त या दर्शन नेत्र हैं।